12·3

(६१)

...ड़ा करके ही ...ले साबुन से ...को मक्खियों ...ये। ...का दूध नहीं ...हो तो हर बार ...रखें। ...त समय पर ...की कमी की ...डाक्टर को

आवश्यक

अगर बच्चे का पेशाब आना बन्द है, बार-बार ...टियां आ रही हैं, उसका पेट फूल रहा है अथवा ...होशी आ रही है तो तुरन्त पास के अस्पताल में ले ...यें एवं विशेषज्ञ डाक्टर से परामर्श लें

-डा. वी. एन. त्रिपाठी

कृमि प्रसार:-

इसके अण्डे ६०X४० (माईक्रान) के, आकृति में गोल या अण्डाकार मूरे आवरण से ढके होते हैं। ये अण्डे रोगी के मल में विसर्जित होते हैं। मल-त्याग उचित स्थान पर न होने से गन्दगी, धूल-धक्कड़ में प्रायः अण्डे मिलते हैं। साग-भाजी अच्छी तरह से न धोने के कारण मक्खी बैठे गन्दे खाने, बगैर हाथ धोये खाने से अण्डे भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं। गन्दा पानी पीने व असुरक्षित बाजारू चीजें, कटे फल आदि खाने से भी अण्डे फैलते हैं। पेट में पहुँचकर अण्डों को पलने-पकने की पूरी सुविधाएं मिलती हैं। परिपक्व होकर अण्डे कृमि हो जाते हैं। मादा गोल कृमि २५-३० से.मी. व नर १५-२० से.मी. लम्बा होता है।

लक्षण:-

गोल कृमि संक्रमण के लक्षण तीन कारकों पर आधारित हैं- (अ) कृमभार अर्थात् कृमि की संख्या, (ब) बच्चे का पोषण स्तर, (स) कृमि जहां स्थित हैं। पेट दर्द, कब्ज या दस्त, कभी-कभी उलटी, भूख का बढ़ना या कम होना, पेट का आकार बढ़ना या फूलना आदि पाचन तंत्र से सम्बन्धित सामान्य लक्षण हैं। अच्छी नींद न आना, चिढ़-चिढ़ापन, कुपोषण, अल्परक्तता, विटामिन 'ए' कमी का दोष आदि अन्य

कृमि आपस में गु... बना देते हैं। इससे... स्थिति कई बार इ... चिकित्सा तक कर... माहौल में मज़ा मार... गांठ बनाते हैं? इस... स्थानीय परिस्थिति... जाती हैं तो वहां के... हैं। इस हड़बड़ाहट... ऐसी कुण्डलियां उ... नहीं। कुछ रोगियों... गाठें महसूस होती... अभी 'अ' गांठ के... गांठ खण्डित होकर... 'ग' स्थान पर मिल... मस्तिष्क विकृति दो... हैं। एक समूह विष... गोल-कृमि का उत्प... मृतक कृमि व स्वि... निकलने वाले विषैले... मस्तिष्क ऊतकों का... पहले मतवालों का... बहुत कम संख्या व मृ... मस्तिष्क ऊतक का...

...किन डॉक्टर से पूछकर

...चाहिए। टेट्रासाइक्लीन के अधिक इस्तेमाल ...िवर जख्मी हो जाता है तथा पीलिया भी हो सकता ...ौर ये गुर्दे की सामान्य प्रक्रिया को रोकता है ...लिए इन दवाओं का उपयोग डाक्टर के ...ही करना चाहिए। गर्भवती महिलाओं के ...के अधिक इस्तेमाल से दांतों में पोषक ...जाती है तथा दांत पीले पड़ जाते हैं ...भूरेपन में बदलने लगता है यह ...। में एंटीबायोटिक दवा लेने का परिणाम ...एंटीबायोटिक दवाएं बहरापन भी पैदा करती ...खून की मात्रा में ग्लूकोज की कमी हो जाती है ...के बाद में घातक हो सकता है इन दवाओं को ...क मात्रा में लेने से श्वास प्रक्रिया में रुकावट ...है और गर्भावस्था में यह स्थिति गर्भस्थ शिशु के अत्यंत हानिकारक है। कुछ लोगों की नींद लाने वाली गोलियों को लेने की आदत होती है इस आदत को जितनी जल्दी छोड़ दिया जाए उतना ही अच्छा होगा क्योंकि नींद वाली गोलियों की आदत पड़ जाने पर बिना इन गोलियों के नींद ही नहीं आएगी और ये गोलियां शरीर के लिए जितनी घातक हैं उतनी कोई और दवा नहीं। कभी-कभी अधिक मात्रा में ये दवा खा लेने से व्यक्ति मौत की नींद सो जाता है इसलिए इन दवाओं को डाक्टर से पूछकर ही लें। कुछ लोग अपनी पाचन क्रिया को ठीक रखने के लिए पाचक गोलियां बराबर खाते रहते हैं पर ये दवाएं लगातार लेने से पाचन क्रिया गड़बड़ा जाती है और फिर इन दवाओं के बिना भोजन पचना बंद हो जाता है अतः इन दवाओं से भी बचें। जहां तक चोट का सवाल है तो थोड़ा बहुत कट या छिल जाने पर डेटाल इत्यादि लगाने से आराम हो जाता है पर यदि चोट गहरी लगी हो तो तुरंत डाक्टर... कभी टांके लगाने की... लापरवाही बरतने से... हो सकता है। बुखार... खाई जा सकती है पर... ठहर जाए तो तुरंत... कुछ लोग ज्यादा दिन... या मलेरिया की दवाएं... गलत हैं और इनके प्र... टॉयफायड न हो तो भी... के लिए उचित यही है... चला जाए।

-प्रस्तुति:
प्रण...

यथायोग्य उपचार करते हैं। पुनर्जलीकरण, विरोधी दवाएं, पिपराजिन एनीमा, राईल्स नली से आमाशय के तरल खींचना आदि आवश्यकतानुसार करते हैं। आंत्र-अवरोध के संदेह पर शल्य चिकित्सक के सम्पर्क करें। निमोनिया व मस्तिष्क विकृति दोष की हालत में मरीज को भर्ती अवश्य करायें। झटके आना, अत्यधिक ज्वर, बेहोशी, अचेतावस्था, सांस में दिक्कत आदि लक्षण इसके समझें।

- बच्चों का कुपोषण दूर करें, विटामिन ए की कमी दूर करने को ख्याल रखें। गोल कृमि विटामिन ''ए'' के अवशोषण को रोकते हैं। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि विटामिन ''ए'' से कृमि को विशेष मोह है अत: वे स्वयं इसका उपयोग कर लेते हैं।

-मल विसर्जन समुचित व स्वास्थ्य-शिक्षा पर आधारित नियमों से किया जाये तो गोल कृमि प्रसार की श्रृंखला को तोड़ना संभव है। वानस्पतिक कूड़े-कचरे के साथ खाद बनाने से किण्वन क्रिया होती है जो अण्डे को तपाकर मार देती है। बोयोगैस विधि से भी यही होता है। रासायनिक खाद ... के प्रति हानिकार...

-सुरक्षि...
व्यक्तिग...
स्नान
से ...

गद्य-निकष

संपादक

डॉ० ब्रजविलास एम० ए०

प्राध्यापक : हिन्दी-विभाग

काशी विद्यापीठ

प्रकाशक

प्रकाशक
पं० रामजी वाजपेयी
विद्यामंदिर
ब्रह्मनाल : वाराणसी

संस्करण : चतुर्थ
प्रतियाँ : ११००
संवत् : २०२२
मूल्य : २-००

मुद्रक
हरनन्दन
विनायक प्रेस,
साक्षीविनायक, वाराणसी।

अनुक्रम

———

हिन्दी गद्य-रूप

हिन्दी में साहित्यिक गद्य-रचना का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में हुआ। इसके पूर्व टीकाओं, वचनिकाओं तथा धार्मिक जीवन-चरित्रों में गद्य के उदाहरण मिल सकते हैं किन्तु उन्हें स्वतंत्र साहित्यिक गद्य-रचना नहीं कहा जा सकता। वैसे सभी विषयों का मूल उत्स वैदिक ऋचाओं में ढूंढ़नेवाले अध्यवसायी विद्वान् आधुनिक गद्य-रूपों के उद्भव और विकास की पुरानी परंपरा सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु सच्चे अर्थ में आधुनिक गद्य-रूपों का विकास हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से ही हुआ है। यहाँ तक कि हिन्दी के परवर्ती नाटकों पर भी पाश्चात्य शैली का ही प्रभाव विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है।

निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, यात्रा-वर्णन आदि गद्य की अनेक विधायें हैं, जिनमें अनेक तत्त्व समान रूप से पाये जाते हैं, किन्तु कथ्य और प्रभाव-सृष्टि संबंधी भेद के कारण वे अपने निजी वैशिष्ट्य से युक्त भी दिखलाई पड़ती हैं। संवाद का तत्त्व इन सभी विधाओं में पाया जा सकता है। कथा-तत्त्व से युक्त कथात्मक निबन्ध भी लिखे गये हैं। फिर भी कथात्मक निबन्ध और कहानी में अंतर है। इन गद्य-विधाओं में निबन्ध विशेष महत्त्वपूर्ण है। निबन्ध को गद्य की कसौटी भी कहा जाता है; बहुत अंश तक यह बात सही भी है। यही कारण है कि गद्य-संकलनों में अन्य गद्य-रूपों की अपेक्षा निबन्धों की अधिकता रहती है। किन्तु अत्यधिक व्यापकता के कारण ही निबन्ध का स्वरूप सबसे अधिक अनिश्चित और विवादास्पद है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी में निबन्ध शब्द अंग्रेजी के 'एसे' के लिये प्रयुक्त होता है। यद्यपि इन शब्दों के व्युत्पत्त्यर्थ में कोई साम्य नहीं है फिर भी दोनों अर्थ इस गद्य-रूप की मूलभूत विशेषताओं को लिये हुए हैं। 'एसे' का अर्थ है प्रयत्न या प्रयास—किसी विषय से संबद्ध विचार या भावना की अभिव्यक्ति का प्रयास। स्पष्टतः इसमें विषय की विशद और निष्कर्षात्मक व्याख्या न होकर, विषय के प्रति एक प्रयास मात्र होता है। निबन्ध का अर्थ

है निकषेन बन्धः, अच्छी तरह कसा हुआ, सुगठित। प्रयास का संबंध मुख्यतः विवेच्य या कथ्य से है और निबन्धन का शैली तथा अभिव्यंजना-पद्धति से। आधुनिक काल के प्रारम्भिक निबन्धकार मान्टेन और बेकन ने 'एसे' का प्रयोग उसके मूल अर्थ में ही किया है। यद्यपि वर्तमान समय में आकर निबन्ध संबंधी इस दृष्टिकोण में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है, फिर भी साहित्यिक निबन्धों में उसका मूल रूप भी बना हुआ है।

निबन्ध नाम देकर लिखी गई अथवा निबन्ध कही जानेवाली रचनाओं को देखने से यह भ्रम होता है कि कथा और नाटक के अतिरिक्त अन्य सभी छोटी गद्य-रचनायें निबन्ध के अन्तर्गत आती हैं और आलोचना, विवरण, संस्मरण तथा व्यक्तिव्यंजक और भावात्मक निबन्ध आदि इसके विविध भेद हैं। सामान्य पाठक को ऐसा लगता है कि निबन्ध कोई विशिष्ट गद्य-रचना न होकर अनेक लघु गद्य-रचनाओं का सामूहिक अभिधान है। उसकी यह धारणा सही भी है क्योंकि सामान्य अर्थ (लूजसेन्स) में निबन्ध विविध प्रकार की परस्पर असमान रचनाओं का बोधक हो गया है। निबन्ध के स्वरूप की अनिश्चयता के मूल में उसका इस सामान्य अर्थ में व्यापक प्रयोग ही है। अंग्रेजी साहित्य में तो काव्यात्मक रचनाओं और दार्शनिक प्रबन्धों तक के लिये 'एसे' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु ऐसे प्रयोगों को रचना के प्रकार-विशेष के लिये ग्रहण नहीं करना चाहिये। लाक्स द्वारा "एसे आव ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग" जैसे दार्शनिक प्रबन्ध के लिये 'एसे' शब्द का प्रयोग लेखक की विनम्रता का सूचक है, रचना-विशेष का नहीं।

विशिष्ट साहित्यिक अर्थ में निबन्ध वह गद्य-रचना है जिसमें रचनाकार का अपने विषय, कथ्य या प्रतिपाद्य के साथ आत्मीयतापूर्ण संबंध होता है; इन रचनाओं के माध्यम से वह कल्पना, चिन्तन, अनुभव, दर्शन तथा भावोद्रेक के क्षणों की उपलब्धियों (रियलाइजेशन) तथा अनुभूतियों को आत्मीयतापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। स्पष्टतः ऐसी

रचनाओं में पूर्णता का अभाव होगा, साथ ही इनमें रचनाकार का विशिष्ट व्यक्तित्व अधिक स्पष्टता के साथ व्यंजित होगा। अतः यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि निबंध में पूर्णता का अभाव आकार की लघुता के कारण होता है। निबन्ध में कथ्य का स्वोपलब्ध या स्वानुभूत होना आवश्यक है तभी उसे निबन्धकार की स्वतंत्र रचना (क्रिएशन) कहा जा सकता है। सही अर्थ में तो निबन्धकार अनुभव, विचार तथा कल्पना आदि के क्षणों की सहज अभिव्यक्ति द्वारा उन क्षणों, भावों, अनुभूतियों और विचार-प्रसङ्गों की पुनः रचना भी करता है। स्पष्ट है कि तथ्य-कथन, व्याख्या, अथवा तटस्थ आलोचन और विवरणात्मक उद्धरण आदि को सही अर्थ में निबन्ध की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

वस्तुतः अपने मूल रूप में निबन्ध सहज उद्दीप्त भाव तथा विचार-तरंगों के प्रकाशन का प्रयास है, अतः उसमें विषय का प्रबंधों जैसा सर्वांगीण विवेचन और विस्तार हो ही नहीं सकता। इसलिये गीतिकाव्यों की तरह निबंध में अपेक्षाकृत अधिक सहजता, व्यक्तित्व-व्यंजकता होती है।

उद्दीप्त भावों और विचारों की प्रकृति और स्वरूप तथा निबन्धकार की मनःस्थिति के अनुसार ही निबन्ध की रचना-पद्धति भी होती है। यदि बौद्धिक चिन्तन जैसे गंभीर क्षणों में उपलब्ध विचारों का प्रेषण निबन्धकार का उद्देश्य है, तो उसकी रचना में विचार-प्रसंगों की प्रमुखता, उन प्रसंगों की परस्पर संबद्धता और तार्किक संगति (लाजिकल कंसिस्टेंसी) का गुण अधिक होगा। इन प्रसंगों की तार्किक संगति के कारण विषय से निबन्धकार का संबंध अधिक बना रहता है। और ऐसे निबन्धों में विषय पर अपेक्षाकृत अधिक बल रहता है। स्वच्छन्द आत्माभिव्यंजन के लिए यहाँ अपेक्षाकृत कम अवकाश रहता है। विवेचन की सुविधा के लिए ऐसे निबन्धों को आलोचकों ने विषय-प्रधान निबन्ध की संज्ञा दी है। संबद्धता और संगति पर विशेष ध्यान होने के कारण, शैली की दृष्टि से इन्हें परिबंध निबन्ध भी कहा जाता है

इसके विपरीत यदि निबन्धकार अनुभूति या कल्पना की सहज और स्वच्छन्द मनःस्थिति में उद्दीप्त भावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है,

तो ऐसे निबन्ध में वार्ता जैसी आत्मीयता, सहजता और रागात्मकता होती है। सहज उद्बुद्ध और आसंगमुक्त (फ्री आव एसोसिएशन) भाव और विचार-प्रसंगों के कारण इस प्रकार के निबन्ध की रचना-शैली में परिबन्ध निबन्धों जैसी संबद्धता और संगति नहीं होती। इन्हें विषयिप्रधान या व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध कहा गया है। संबद्धता और संगति के औपचारिक बंधन को स्वीकार न करने के कारण शैली की दृष्टि से इन्हें निर्बन्ध निबन्ध की संज्ञा दी गई है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सच्चे अर्थ में इस प्रकार के आत्मीयतापूर्ण व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों (परसनल एसेज) को ही निबन्ध की संज्ञा दी जानी चाहिए। इसमें विषय का उतना महत्व नहीं होता जितना कि उस विषय के आसंग से उत्पन्न मन के विविध भाव और विचार-तरंगों का होता है। विषय केवल माध्यम होता है, जिसके द्वारा निबन्धकार उन्मुक्त भाव से अपनी मनः-स्थिति तथा प्रतिक्रिया विशेष को व्यक्त कर देता है। प्रभाव और प्रतिक्रिया की अभिव्यंजना द्वारा ही अप्रत्यक्ष रूप से वह अपने कथन की भी व्यंजना कर देता है। अतः व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध सामान्य से सामान्य विषय को लेकर लिखा जा सकता है। कोई घटना, दृश्य, कथन या वार्ता का कोई प्रसंग लेखक के भावों और विचारों को उद्वेलित करने में माध्यम का कार्य कर सकता है।

विषयिप्रधान निबन्धों के अन्तर्गत ही वे भावात्मक वर्णनात्मक निबन्ध भी आते हैं, जिनमें वस्तु, घटना, दृश्य का उतना महत्त्व नहीं होता जितना कि उनके मानसिक प्रभावों का। ऐसे निबन्धों में यद्यपि निबन्धकार का आद्यन्त अपने विषय से संबंध बना रहता है, किन्तु उसमें निबन्धकार का उद्देश्य विषय की व्याख्या या वर्णन न होकर विषयगत मानसिक प्रतिक्रिया और प्रभाव का वर्णन होता है। ये निबन्ध वस्तुपरक कम और व्यक्तिपरक ही अधिक होते हैं।

इस प्रकार निबन्ध के मुख्यतः तीन भेद—चिन्तनात्मक या विचारात्मक व्यक्ति व्यंजक और भावात्मक—वर्णनात्मक मानने चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रत्येक निबन्ध में इन्हीं में से किसी एक वर्ग की विशेषताएँ

ही विशुद्ध रूप में होनी चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि किसी निबन्ध में इन तीनों की विशेषताएँ हों। वस्तु, दृश्य या घटना का वर्णनात्मक चित्र उपस्थित करनेवाले निबन्धों में सम्भव है कि भावात्मकता कम और वस्तुवर्णन अधिक हो। यह अवश्य है कि ऐसे वर्णन शुद्ध यथातथ्यात्मक होने पर सही अर्थ में निबन्ध की सीमा में नहीं आ सकते।

जैसा कि प्रारंभ में संकेत किया गया है कथा और नाटक आदि गद्य के अन्य रूपों ने भी आधुनिक निबन्ध-कला को प्रभावित किया है। परिणामस्वरूप किसी कथा के माध्यम से अपने भावों और विचारों को प्रकट करने की प्रवृत्ति भी आधुनिक निबन्धों में प्रायः दिखलाई पड़ती है। संवाद-तत्त्व का भी अनेक निबन्धों में पर्याप्त उपयोग किया गया है। कुछ निबन्धों में तो कथा-तत्त्व इतना अधिक दिखलाई पड़ता है कि सामान्य पाठक ऐसे निबन्ध और कहानी में कोई अन्तर नहीं समझ पाता। किन्तु इस प्रकार के कथात्मक निबन्धों और कहानी में तात्त्विक अन्तर है। कथात्मक निबन्ध में कहानी के गुणों के होते हुए भी कहानी जैसी प्रभावान्विति और तीव्रता नहीं होती। प्रभाव की समग्रता के स्थान पर प्रकारान्तर से विचारों और भावों का सांकेतिक ढंग से कथन कथात्मक निबन्ध का मुख्य उद्देश्य होता है।

II निबन्ध की तरह कहानी भी अत्यन्त लोकप्रिय गद्य-रूप है और निबन्ध की तरह ही हिन्दी में आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ भी पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से ही हुआ है। यद्यपि कथा-साहित्य की भारतीय परंपरा अत्यंत प्राचीन है और संस्कृत में अनेक कथाओं और कथा-काव्यों की रचना हुई है किन्तु आधुनिक कहानी इन कथाओं-आख्यायिकाओं से कई दृष्टियों से भिन्न है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-कहानियाँ पाश्चात्य कहानियों (शार्ट स्टोरीज) के आदर्श पर लिखी गई हैं, प्राचीन भारतीय कथाओं के आदर्श पर नहीं।

उपन्यास की तरह ही कहानी में भी कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण आदि तत्त्व होते हैं। अतः कहानी और उपन्यास में सामान्यतया आकार और विस्तार का ही भेद समझ लिया जाता है। कहानी उपन्यास का

ही लघु वा संक्षिप्त रूप है यह एक अत्यंत भ्रांत धारणा है। प्रभावान्विति और लक्ष्य की एकोन्मुखता कहानी की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसकी उपन्यास से भिन्न पृथक सत्ता सिद्ध करती हैं। चरित्र, संवाद, वातावरण आदि सभी तत्त्व उस अभीप्सित प्रभाव से ही नियंत्रित होते हैं। साथ ही कहानी में उपन्यास के इन तत्त्वों में से किसी एक तत्त्व के एक पक्ष को ही प्रधान रूप से लिया जा सकता है। प्रभाव की तीव्रता और अन्विति के लिए कहानी में जिस संकलन और चुनाव की आवश्यकता होती है, वह उपन्यास के लिए अपेक्षित नहीं। अतः बहुत सी उपन्यास समझी जानेवाली रचनायें वस्तुतः कहानी होती हैं और कहानी समझी जानेवाली उपन्यास। कहानी के सभी तत्त्वों को कहानी में किसी एक ही अभिप्राय, एक ही लक्ष्य और एक ही प्रभाव की ओर उन्मुख होना चाहिए। कहानी में प्रभाव की तीक्ष्णता और अन्विति का महत्त्व होता है जब कि उपन्यास में जीवन का समग्र प्रभाव उत्पन्न करना लक्ष्य होता है।

यद्यपि प्रत्येक कहानी में कहानी के उपर्युक्त तत्त्व अभिन्न रूप में वर्तमान रहते हैं किंतु कहानीकार की दृष्टि उद्देश्य के अनुरूप इन में से किसी एक पर इतनी अधिक केन्द्रित हो सकती है कि अन्य तत्त्वों का कोई विशेष महत्त्व न रह जाय। इन्हीं तत्त्वों में से किसी एक की प्रमुखता को ध्यान में रखकर कहानियों के घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान, भाव-प्रधान आदि भेद किये जाते हैं। विषय की दृष्टि से कहानियों के अनेक वर्ग हो सकते हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचक, साहसिक, मनोवैज्ञानिक आदि।

लक्ष्य और प्रभाव की एकोन्मुखता और अन्विति के विचार से कहानी से बहुत कुछ साम्य रखनेवाला दूसरा गद्य-रूप है गद्यगीति। गद्यगीति की परंपरा भी हिंदी में नयी है। छायावाद युग में गीतिकाव्यों (लिरिक पोयट्री) के साथ ही गद्यगीतों का भी हिंदी में प्रारंभ हुआ। पद्यात्मकता या छंदोबद्धता को छोड़कर गीतिकाव्य की अन्य सभी विशेषतायें इन गद्यगीतों में दिखाई पड़ती हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है अंतर केवल गद्य और पद्य के रूप (फार्म) का है। इनमें वैयक्तिक अनुभूतियों और भावनाओं की ही प्रधान रूप से अभिव्यक्ति होती है। पृष्ठभूमि के रूप में अथवा अलंकार और प्रतीक के रूप में चित्रित प्रकृति भी

लेखक की उस भावना के रंग में रंगी होती है। अतः वैयक्तिकता और अन्तर्वृत्ति-निरूपण की प्रवृत्ति को गद्य-गीतों की प्रमुख विशेषता मानना चाहिए। गीतिकाव्य की तरह इसमें भी भावान्विति (यूनिटी आव इमोशन्स) पर विशेष बल होता है, अतः एक गद्यगीति में एक ही अनुभूति या एक ही भाव का चित्रण हो सकता है। तीव्र और गहरा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी किसी अनुभूति या भाव की कुछ रेखाओं को ही विशेष रूप से उभारने का प्रयत्न किया जाता है। जहाँ तक अनुभूति के स्वरूप का प्रश्न है, ये प्रत्यक्ष जगत् से संबद्ध लौकिक अनुभूतियाँ भी हो सकती हैं और परोक्ष जगत् से संबद्ध रहस्यात्मक भी। छन्दोबद्ध न होने पर भी लयात्मक प्रभाव (रिद्मिकल इफेक्ट) इसमें गीतिकाव्यों जैसा ही होता है। पदों और वाक्यों के विशिष्ट क्रम-विन्यास, उनकी आवृत्ति, चित्रात्मकता तथा अलंकृति आदि काव्य-कौशल इस प्रभाव की सृष्टि में सहायक होते हैं। गद्य-गीतों में अभिव्यंजना की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली का ही विशेष रूप में सहारा लिया जाता है।

प्रायः गद्य-गीत समानार्थी के रूप में गद्य-काव्य शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। किन्तु दोनों में स्पष्ट अंतर है, वही अंतर है जो काव्य और गीतिकाव्य में है। गीति काव्य का एक रूप है, उसी तरह गद्यगीति गद्यकाव्य का एक रूप है। संस्कृत के आलंकारिकों के अनुसार रसात्मक गद्य को गद्यकाव्य की संज्ञा दी जाती है। संस्कृत के गद्यकाव्य-कथाकाव्य, व्याख्यायिका—काव्य जैसी अलंकृति और रसात्मकता से युक्त हैं। आधुनिक अर्थ में भी काव्य जैसी संवेदनशीलता, भावात्मकता और रसात्मकता से युक्त गद्य-रचना को भी गद्यकाव्य कहा जा सकता है। गद्यकाव्य की पद और वाक्य-रचना भी सामान्य गद्य से विशिष्ट और लययुक्त होती है। अतः किसी वस्तु, घटना, दृश्य आदि का भावात्मक और रसात्मक चित्रण करनेवाली गद्य-रचना को भी गद्यकाव्य कहा जा सकता है। अन्तर्वृत्ति-निरूपण, वैयक्तिकता तथा भाव की एकता और अन्विति आदि जिन विशेषताओं का गद्यगीति के संबंध में उल्लेख किया गया है, वे गद्यकाव्य के अनिवार्य तत्व

नहीं हैं। गद्यकाव्य की विशेषतायें तो गद्यगीति में भी होती हैं। किन्तु गद्यगीति की विशेषतायें गद्यकाव्य में हों, यह आवश्यक नहीं।

गद्य-रचना के इन महत्त्वपूर्ण रूपों के अतिरिक्त जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, व्यक्तित्व-चित्र तथा यात्रा-वर्णन आदि अन्य रूप भी हैं जिनमें आज रचनायें हो रही हैं। किन्तु अभी भी हिन्दी में इन रूपों का पूर्ण विकास नहीं हो सका है। इस प्रकार की रचनायें अपेक्षाकृत कम लिखी गई हैं, अतः इन गद्यरूपों में उस प्रकार का वैविध्य नहीं दिखलाई पड़ता जैसा कि निबन्ध और कहानी के क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है।

जीवनी, आत्म-चरित और संस्मरण को वर्णनात्मक निबन्धों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। किन्तु आज निबन्ध की सीमा में आने के लिए उन्हें चरित्र या व्यक्ति की कुछ ऐसी ही विशेषताओं के चित्रण तक सीमित रहना पड़ेगा जिनके द्वारा वे किसी चारित्रिक वैशिष्ट्य का एक चित्र पाठक के मन पर उतार सकें। अतः उनका संक्षिप्त होना आवश्यक है। किन्तु निबन्ध के इन बन्धनों को तोड़कर प्रायः जीवन-चरित्र और संस्मरण वृहद आकार भी धारण कर लेते हैं। उपन्यास की तरह इनमें किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाओं का विस्तृत वर्णन भी किया जा सकता है। अतः जीवन-चरित्र और संस्मरण उपन्यास की तरह वृहदाकार भी हो सकते हैं और कहानी तथा निबन्ध की तरह संक्षिप्त भी। वस्तुतः कुछ निजी विशेषताओं के कारण आज इनका स्वतंत्र अस्तित्व और महत्त्व हो गया है और अन्य गद्य-रूपों से भिन्न स्वतंत्र रूप से इनका विकास भी हो रहा है। जीवन-चरित्र तथा आत्म-चरित्र का यथार्थ और रोचक होना आवश्यक है, साथ ही लेखक की तटस्थता और सचाई भी अपेक्षित है। साहित्यिक जीवनी का उद्देश्य जीवन-विवरण देना नहीं बल्कि व्यक्तित्व का चित्रण करना होता है, संबद्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व का पाठक के मन पर प्रभाव डालना होता है। इसलिए कथा की तरह चुनाव आवश्यक होता है। व्यक्तित्व-चित्रण में योग देनेवाले तथ्यों का ही वर्णन होना चाहिए, अन्य अनावश्यक तथ्यों का नहीं। प्रस्तुत संग्रह में 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा' एक प्रकार का आत्मचरित वर्णन ही है जिसमें पंतजी ने

पुस्तकों के उल्लेख द्वारा अप्रत्यच्च रूप से उनके व्यक्तित्व का भी चित्रण किया है।

रेखाचित्र तथा व्यक्तित्वचित्र में भी बहुत अंश तक छोटे संस्मरण की विशेषतायें ही रहती हैं। इनका उद्देश्य भी विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रभावपूर्ण चित्र चित्रित करना होता है। व्यक्तित्व-चित्रण भावात्मक या आत्मगत (सबजेक्टिव) और आत्म-निरपेच्च दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रस्तुत संकलन में वाल्ट ह्विटमैन के व्यक्तित्व का भावात्मक चित्रण किया गया है, फलस्वरूप उसमें लेखक का व्यक्तित्व भी पूरी तरह उभरकर सामने आया है।

रेखाचित्र में व्यक्तित्व की कुछ विशिष्ट रेखाओं को ही उभारा जाता है। अतः उस वैशिष्ट्य से असम्बद्ध बातों के लिए उसमें अवकाश नहीं रहता। जैसे चित्रकार कुछ रेखाओं से किसी भाव या मुद्रा-विशेष की व्यंजना कर देता है, उसी तरह कलात्मक ढंग से वर्णनों द्वारा साहित्यिक रेखाचित्र में व्यक्तित्व के किसी वैशिष्ट्य को चित्रित या व्यंजित किया जाता है।

साहित्यिक यात्रा वर्णन में रोचकता और सरसता के साथ-साथ कुतूहल उत्पन्न करने की च्चमता होनी चाहिए। अल्पज्ञात स्थानों की यात्रा का वर्णन इसीलिये अधिक आकर्षक और कुतूहल उत्पन्न करनेवाला होता है। ऐसे वर्णनों में दृश्यों और स्थानों का संश्लिष्ट और भावात्मक चित्रण होना चाहिए। लेखक के व्यक्तित्व से रंगे हुए अनुभूतिपूर्ण चित्रात्मक वर्णन ही सही अर्थ में साहित्यिक यात्रा-वर्णन के अन्तर्गत आ सकते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में गद्य को इन विधाओं और गद्य की विविध शैलियां को ध्यान में रखकर रचनायें संकलित की गई हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि हिन्दी गद्य-रचना की अधिकांश शैलियों का ज्ञान पाठक को हो जाय। जहाँ तक गद्य-विधाओं का प्रश्न है उपन्यास और नाटक को छोड़कर प्रायः अन्य सभी महत्त्वपूर्ण विधाओं के उत्कृष्ट उदाहरण इसमें संगृहीत किए गए हैं। उपन्यास और नाटक के स्वरूप और रचना-पद्धति के ज्ञान के लिए उनका स्वतन्त्र रूप से अध्ययन अपेक्षित है।

गोवर्द्धनसराय : वाराणसी

ब्रजविलास

दाँत

लेखक—प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र ने विविध विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। देश-दशा, समाज-सुधार आदि के सम्बन्ध में विषय-प्रधान निबन्ध भी लिखे हैं और दाँत, भौं तथा अन्य मनोरंजक विषयों को लेकर विनोदपूर्ण आत्मव्यंजक निबन्ध भी। विषय-प्रधान निबन्ध प्रायः उपदेशात्मक और सुधारवादी हैं। किन्तु सामान्य विषयों पर विनोदपूर्ण शैली में लिखे गये अनेक निबन्ध निबन्धकार के व्यक्तित्व से ओत-प्रोत होने के कारण बहुत ही मनोरंजक और सरस हैं। प्रस्तुत निबन्ध में यह विशेषता स्पष्ट देखी जा सकती है। विनोद-प्रियता और शैली की व्यंगपूर्ण वक्रता आद्यंत दिखलाई पड़ती है। हिन्दी में व्यक्तिव्यंजक शैली के निबन्धों का प्रारम्भ इसी प्रकार के निबन्धों से हुआ है। इन निबन्धों में विषय से निबन्धकार का थोड़ा-बहुत सम्पर्क आद्यन्त किसी न किसी रूप में बना रहता है किन्तु प्रभाव की दृष्टि से उसका विशेष महत्व नहीं होता। ये विषय बात को मनोरंजक ढंग से पाठकों के सम्मुख रखने के साधन-रूप में ही ग्रहण किये गये हैं। इस निबन्ध में भी विनोदपूर्ण ढंग से दाँत का महत्व बतलाते हुए लेखक देशहित और राष्ट्रोन्नति में योग देने का अप्रत्याशित ढंग से उपदेश दे देता है। व्यंगपूर्ण वक्रता से युक्त मुहावरेदार चलती भाषा का प्रयोग इनकी शैली की विशेषता है। व्यंगविनोद के लिये स्थानीय (बैसवारे की) कहावतों और शब्दों का भी खूब प्रयोग किया गया है।

दाँत

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी सी छोटी-छोटी हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने वह कौशल दिखलाया है कि किसके मुँह में दांत हैं जो पूरा-पूरा वर्णन कर सके। मुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वाद इन्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक (जुल्फ), भ्रू (भौं) तथा वरुणी आदि की छवि लिखने में बहुत-बहुत रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सबकी शोभा है। जब दाँतों के बिना पुपला-सा मुँह निकल आता है और चिबुक (ठोढ़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती है उस समय सारी सुघराई मिट्टी में मिल जाती है। नैनबाण की तीक्ष्णता, भ्रूचाप की खिचावट और अकलपन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता। कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है वह बहुत ठीक है वरंच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं। यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्य-शास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का मजा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ को चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया भर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता होगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शन मात्र हमसे सुन लीजिए।

१—शृंगार का तो कहना ही क्या है। ऐसा कवि शायद कोई ही हो जिसने सुंदरियों की दन्तावली तथा उनके गोरे गुदगुदे गोल कपोल पर रदछद (दन्तदाग) के वर्णन में अपने कलम की कारीगरी न दिखाई हो। आहा हा! मिस्सी तथा पान रंग रँगे अथवा यों ही चमकदार चटकीले

दांत जिस समय बात करते तथा हँसने में दृष्टि आते हैं उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूंगे की मिठाई है। २—हास्य रस का तो पूर्ण रूप ही नहीं जमता जब तक हँसते-हँसते दांत न निकल पड़ें (पर देखना कहीं मक्खी लात मार न जाय) ३—करुण और ४—रौद्र रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दांत अपने ओंठ चबाने के काम आते हैं। एवं अपनी दीनता दिखा के दूसरे को करुणा उपजाने में दांत दिखाए जाते हैं। रिस में भी दांत पीसे जाते हैं। ५—सब प्रकार के वीर रस में भी सावधानी से शत्रु के सैन्य अथवा दुखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दांत लगा रहता है। ६—भयानक रस के लिए सिंह-व्याघ्रादि के दांतों का ध्यान कर लीजिए; पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे। ७—बीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दांत देख लीजिए जिनकी छोटी-सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता है। ८—अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख सुन के दांत बाय, मुँह फैलाय के हक्का-बक्का रह जाते हैं। ९—शान्त रस के उत्पादनार्थ श्री शंकराचार्य स्वामी का यह पद महामंत्र है—

> अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडम्।
> करधृतकंपितशोभितदंडं तदपि न मुंचत्याशा पिंडम्।
> भज गोविंदं भज गोविंदं गोविंदं भज मूढमते।

सच है जब किसी काम के न रहें तब पूछे कौन?

> दाँत खियाने खुर घिसे पीठ बोझ नहिं लेइ।
> ऐसे बूढ़े बैल को कौन बाँध भूसा देइ॥

जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुवे, मछली, स्थल के कौवा, कुत्ता, आदि दांत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत् चित्त से भगवान का भजन न किया तो क्या किया? आपकी हड्डियाँ

२

हाथी के दांत तो हुई नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवेंगी। जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है। देखिए, आपके दाँत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब तक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दंतावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े-बड़े सुन्दर मुखारविन्दों पर हमारी मोहर 'छाप' रहती है। पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं—

'मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़।'

हम नहीं जानते कि नित्य यह देख के भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख्य सजातीय हिन्दू-मुसलमानों का साथ तन, मन, धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते। याद रखिए—

स्थानभ्रष्टाः न शोभंते दंत्ताः केशा नखा नराः।

हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिन्दुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान-भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है। हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना, निकल पड़ना नहीं कहलाता वरंच एक प्रकार की शोभा होती है। ऐसे ही आप स्वदेशचिंता के लिए कुछ काल देशांतर में रह आएँ तो आपकी बड़ाई है। पर हाँ, यदि वहाँ जाके यहाँ की ममता ही छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दाँतों के समान है जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण-विशेष से मुँह के बाहर रह जाते हैं और सारी शोभा खो के भेड़िए के से दाँत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दोनों का परदा है, जिसके परदा न रहा अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निर्लज्ज जिन्दगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहता होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक में मानते

हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देशभाई पर सदा हमारे देश, जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं । परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे । उनके होने का हमें कौन सुख है । हम तो उनकी जैजैकार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दांतकाटी रोटी का वर्ताव (सच्ची गहरी प्रीति) रखते हैं । परमात्मा करे कि हर हिन्दू-मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दांतों पसीना आता रहे । हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—'कायर कपूत कहाय, दांत दिखाय भारत तम हरौ' । कोई हमारे लेख देख दांतों तले उँगली दबा के सूझ-बूझ की तारीफ करे अथवा दांत बाय के रह जाय या अरसिकतावश यह कह दे कि कहां की दांत किलकिल लगाई है तो इन बातों की हमें परवाह नहीं है । हमारा दांत जिस ओर लगा है वह लगा रहेगा । औरों की दंतकटाकट से हमको क्या । यदि दांतों के संबंध का वर्णन किया चाहें तो बड़े-बड़े ग्रंथ रँग डालें और पूरा न पड़े । आदिदेव श्री एकदंत गणेश जी को प्रणाम करके श्रीपुष्पदंताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है उन शिव जी की महिमा दंतवक्त्र शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें तो कोटि जन्म पार न पावें । नाली में गिरी हुई कौड़ी को दांत से उठानेवाले मक्खीचूसों की हिजो किया चाहें तो भी लिखते-लिखते थक जायें । हाथीदांत से क्या-क्या वस्तु बन सकती है ? कलों के पहियों में कितने दांत होते हैं, और क्या-क्या काम देते हैं, गणित में कौड़ी-कौड़ी के एक-एक दांत तक का हिसाब कैसे लग जाता है, वैद्यक और धर्मशास्त्र में दंतधावन की क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है, पद्धतिकारों ने 'दीर्घदंता: क्वचिन्मूर्खा:' आदि क्यों लिखा, किस-किस जानवर के दांत किस-किस प्रयोजन से किस-किस रूप-गुण से विशिष्ट बनाए गए हैं ? मनुष्यों के दांत उजले, पीले, नीले, छोटे, मोटे, लम्बे, चौड़े, घने, खुड़हे कै रीति के होते हैं, इत्यादि अनेक बातें हैं जिनका विचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए । वरंच यह भी कहना ठीक है कि

यह बड़ी-बड़ी विद्याओं के बड़े-बड़े विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दाँतों फूटने के नहीं । तिस पर भी अकेला आदमी क्या-क्या लिखे ? अतः हम इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तिस दाँतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दाँतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास योग्य नहीं हैं । हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और ।

———

हंस का नीर-क्षीर विवेक

लेखक—महावीरप्रसाद द्विवेदी

लोक-सिद्ध या शास्त्र-सिद्ध न होने पर भी कवियों द्वारा परम्परा से व्यवहृत होनेवाले अर्थ या विचार (idea) को कवि-प्रसिद्धि की संज्ञा दी जाती है। हंस का नीर-चीर विवेक ऐसी ही एक कवि-प्रसिद्धि है। इस निबन्ध में इस कवि-प्रसिद्धि की वास्तविकता के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस कवि-कल्पना के सम्भावित आधार की ओर संकेत किया गया है। निबन्ध विचारात्मक है और द्विवेदी जी के अन्य विचारात्मक निबन्धों की तरह ही साहित्य के सामान्य से सामान्य पाठकों और जिज्ञासुओं को भी विषय का अच्छी तरह परिचयात्मक ज्ञान करानेवाला है। प्रेरणा-स्रोत के रूप में संस्कृत साहित्य के ग्रहण द्वारा नवीन साहित्यिक जागरण लाने की द्विवेदी जी की कल्पना, उनकी पुनरुत्थान की प्रवृत्ति, उपदेशात्मक शैली और व्यास-पद्धति इस निबन्ध में भी दिखलाई पड़ती है।

हंस का नीर-क्षीर विवेक

संस्कृत-साहित्य में हंस, पिक, भ्रमर और कमल की बड़ी धूम है। बिना इनके कवियों की कविता फीकी हो जाती है। कोई पुराण, कोई काव्य, कोई नाटक ऐसा नहीं जिसमें इनका जिक्र न हो। सबमें कवियों ने एक न एक विशेषता भी रक्खी है। यथा—हंस, मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है, दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। पिक अपने बच्चे कौओं के घोंसलों में रख आता है और बड़े होने तक उन्हीं से उनकी सेवा कराता है। भ्रमर, आम की मंजरी से अतिशय प्रेम करता है, पर चम्पे के पास तक नहीं जाता। कमल चन्द्रमा से द्वेष रखता है, उसकी विद्यमानता में वह कभी नहीं खिलता, पर सूर्य का वह परम भक्त है। इनमें से दो-एक बातें तो निःसंदेह सही हैं, पर औरों के विषय में मतभेद है। उदाहरण के लिये हंस और उसके नीर-क्षीर-विषयक विवेक को लीजिए।

संस्कृत काव्यों में जगह-जगह पर यह लिखा हुआ है कि हंस में यह शक्ति है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है। पर दूध और पानी को अलग-अलग करते उसे किसी ने नहीं देखा। शायद किसी ने देखा भी हो, पर इस विषय का कोई लेख कहीं नहीं मिलता। यह प्रवाद सात समुद्र पार करके अमेरिका पहुँचा। वहाँ के विद्वानों को हंस का यह अद्भुत गुण सुनकर आश्चर्य हुआ। पर वे लोग ऐसी-ऐसी बातों को चुपचाप मान लेवे वाले नहीं। इस देश में हंस-विषयक यह प्रवाद हजारों वर्षों से सुना जाता है। पर इसके सत्यासत्य की जाँच आज तक किसी ने नहीं की। यदि किसी ने की भी हो तो उसका फल कहीं लिपिबद्ध नहीं मिलता। अमेरिका में हर्वार्ड नाम का एक विश्वविद्यालय है। उसमें लांगमैन साहब एक

अध्यापक हैं। आपने हंस के इस अलौकिक गुण की परीक्षा का प्रण किया। इसलिए आपने कई हंस मँगाकर पाले और अनेक तरह से उनकी परीक्षा की। पर नीर को क्षीर से अलग करने में उन्होंने हंस को असमर्थ पाया, तो हंस के नीर-क्षीर-विवेक-विषयक वाक्यों की क्या संगति हो.? इस विषय के दो-चार वाक्य सुनिए—

नीर-क्षीर-विवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

—भामिनीविलास

हे हंस, यदि क्षीर को नीर से अलग कर देने का विवेक तू ही शिथिल कर देगा, तो फिर इस जगत् में अपने कुलव्रत का पालन और कौन करेगा?

वितीर्णशिक्षा इव हृत्पथस्थसरस्वतीवाहनराजहंसैः।
ये क्षीर-नीर-प्रविभागदक्षा यशस्विनस्ते कवयो जयंति॥

—श्रीकण्ठचरित

हृदय को स्थित सरस्वती के वाहन राजहंसों ने मानो जिनको शिक्षा दी है, ऐसे क्षीर-नीर-विभाग करने में दक्ष कविजनों की महिमा खूब जागरूक है।

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षति च द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥

—शकुन्तला

हंस जिस तरह क्षीर ग्रहण कर लेता है और उसमें मिला हुआ पानी पड़ा रहने देता है, वैसे ही यह भी वध करने योग्य तुझे मारेगा और रक्षणीय द्विज की रक्षा करेगा।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभः।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः॥

—महाभारत—आदिपर्व

लोगों के मुँह से भली-बुरी बातें सुनकर बुद्धिमान् आदमी अच्छी बात को वैसे ही ग्रहण कर लेता है, जैसे हंस जल में से दूध को ग्रहण कर लेता है।

यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण के दूसरे अध्याय में एक वाक्य है। उसका मतलब है— जिस तरह क्रौंच-पक्षी जल और दूध को अलग-अलग करके दूध का ही पान करता है, उसी तरह इन्द्र भी जल से सोमरस को अलग करके उसका पान कर लेता है। इसकी टीका सायणाचार्य ने इस प्रकार की है—

क्षीरपात्रे स्वमुखे प्रक्षिप्ते सति मुखगतरससम्पर्कात्क्षीरांशो जलांशश्चोभौ विविच्येते।

अर्थात्—जल-मिश्रित दूध के बर्तन में हंस जब अपनी चोंच डालता है। तब मुखगत रस-विशेष का योग होते ही जल और दूध अलग अलग हो जाते हैं, या अलग-अलग जान पड़ते हैं।

इस पिछले अवतरण से यह सूचित होता है कि किसी-किसी की राय में हंस के मुँह में एक प्रकार का रस होता है। उस रस का मेल होने से पानी और दूध अलग-अलग हो जाते हैं। यदि इस रस में खट्टापन हो तो दूध का जमकर दही हो जाना संभव है। पर इसके लिये कुछ समय चाहिये। क्या हंस की चोंच दूध के भीतर पहुँचते ही दूध जम जाता होगा? संभव है, जम जाता हो पर यह बात समझ में नहीं आती कि पात्र में भरे हुए जल-मिश्रित दूध में से जल को अलग करके दूध को हंस किस तरह पी लेता है। अध्यापक लांगमैन की परीक्षा से तो यह बात सिद्ध नहीं हुई।

अमेरिका के एक और विद्वान् ने हंस के नीर-क्षीर-विषयक प्रवाद का विचार किया है। आपका नाम है डाक्टर काम्मस। आप वाशिंगटन में रहते हैं। आपका मत है कि हंस के मुँह की बनावट ऐसी है कि जब वह कोई चीज खाता है, तब उसका रस-मय पतला अंश उसके मुँह से बाहर गिर पड़ता है और

कड़ा अंश पेट में चला जाता है। आपके मत में दूध से मतलब इसी कड़े अंश से है। बहुत रसीली चीज के कठोर अंश का बाहर वह आना सम्भव जरूर है पर किसी चीज के कठोर अंश का अर्थ दूध करना हास्यास्पद है।

अच्छा, हंस रहते कहाँ हैं और खाते क्या हैं? हंस बहुत करके इसी देश में पाये जाते हैं। उनका सबसे प्रिय निवासस्थान मानसरोवर है। यह सरोवर हिमालय पर्वत के ऊपर है। सुनते हैं, यह बहुत सुन्दर है। इसका जल मोती के समान निर्मल है। यहीं हंस अधिकता से रहते हैं और यहीं वे अंडे देते हैं। जाड़ा आरम्भ होते ही, शीताधिक्य के कारण मानसरोवर छोड़ करके नीचे चले आते हैं, पर विन्ध्याचल के आगे वे नहीं बढ़ते। विन्ध्य और हिमालय के बीच ही में निर्मल जलराशिपूर्ण तालाबों और नदियों के किनारे वे रहते हैं। चैत्र-वैशाख में वे हिमालय की तरफ चले जाते हैं। जिन जलाशयों में कमलों की अधिकता होती है, वे हंसों को अधिक प्रिय होते हैं। वहीं वे अधिक रहते हैं। उनके शरीर का रंग सफेद होता है और उनके पैर लाल होते हैं, चोंच का रंग भी लाल होता है, डील-डौल उनका बतक से कुछ बड़ा होता है।

यदि हंस दूध पीते हैं, तो दूध उनको मिलता कहाँ से है? मानसरोवर में उन्होंने गायें या भैंसे तो पाल नहीं रक्खीं और न हिन्दुस्तान ही के किसी तालाब या नदी में उनके दूध पीने की कोई सम्भावना है! इससे गाय-भैंस का दूध पीना हंसों के लिए असम्भव-सा जान पड़ता है। कोई-कोई कविजन कहते हैं कि हंस मोती चुगते हैं। पर मोती भी मानसरोवर में नहीं पैदा होते। यदि उसमें मोतियों का पैदा होना मान भी लिया जाय तो हिन्दुस्तान के तालाबों में, जहाँ वे कुछ दिन रहते हैं, मोतियों का पैदा होना आज तक नहीं सुना गया। हाँ, एक बार हमने कहीं पढ़ा था कि पंजाब या राजपूताने की किसी झील में कुछ शुक्तियाँ ऐसी मिली थीं जिनमें मोती थे, पर क्या जितने हंस मानसरोवर छोड़कर नीचे आते हैं वे सिर्फ उसी झील में जाकर रहते और मोती चुगते हैं? वहाँ भी यदि मोती बिखरे हुए पड़े हों, तभी उन्हें हंसगण आसानी से चुगेंगे।

पर यदि वे शुक्तियों के भीतर ही रहते हों तो उनको फोड़कर मोती निकालना हंसों के लिए जरा कठिन काम होगा। पर इन सम्भावनाओं का कुछ अर्थ नहीं। निर्मल जल की उपमा मोती से दी जाती है और मानसरोवर का जल अत्यंत निर्मल है। इससे उसके मोती-सदृश निर्मल जल की उपमा मोती से देते लोगों ने जल को ही मोती मान लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अतएव—'की हंसा मोती चुगैं की भूखे रह जायँ' आदि में मोती चुगने से मतलब मोती के समान निर्मल जल पीने से जान पड़ता है। यह पीने की बात हुई। अब खाने की बात का विचार कीजिए। नैषधचरित के पहले सर्ग में लिखा है कि राजा नल ने एक हंस पकड़ा। हंस आदमी की बोली बोलता था। उसने राजा से कहा—'फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।' अर्थात् पानी में पैदा होनेवाले पौधों और बेलों के फलों और कंदों से मैं मुनियों के समान अपना जीवन-निर्वाह करता हूँ। भामिनी-विलास में जगन्नाथराय ने हंस की एक अन्योक्ति कही है, यथा—

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता,
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य,
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः?

हे राजहंस, जिसके आश्रय में रहकर तूने मृणाल-दण्डों को खाया, जलपान किया और नलियों का स्वाद लिया उस सरोवर का तू किस प्रकार प्रत्युपकार करेगा? मेघदूत में कालिदास कहते हैं—

आकैलाशाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः,
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः।

अर्थात् बिस और किसलय रूपी पाथेय (रास्ते में खाने-पीने की सामग्री) लेने वाले राजहंस आकाश में, कैलाश पर्वत से आप (मेघ) के साथी या सहायक होंगे। विक्रमोर्वशीय में भी कालिदास एक जगह कहते हैं—

सुरांगना कर्षति खंडितायात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी।

अर्थात् यह सुरांगना (मेरा मन शरीर से उसी तरह) खींच रही है, जिस तरह राजहंसी मृणाल से सूत्र खींचती है। इन अवतरणों से प्रकट है कि हंस चाहे मोती चुगते और दूध पीते ही क्यों न हों, पर वे पानी भी पीते हैं और जलरुह पौधों के फल, फूल, मूल, नाल, मृणाल और बिस-तन्तु भी खाते हैं। हंसों को जलपूर्ण जलाशयों में रहना अधिक पसन्द है। वहाँ उनके खाने की सामग्री, विशेष करके मृणालदंड, उनके भीतर के बिस-तन्तु और इनसे निकलने वाला रस है। कमल-नाल को तोड़ने से उसके भीतर से सफेद-सफेद सूत-सी एक चीज निकलती है उसी को बिस-तन्तु कहते हैं। सुनते हैं, उसे हंस बहुत खाते हैं। मृणाल-दंड की गाँठों से एक तरह का रस भी निकलता है, यह पतले दूध की तरह होता है। उसमें कुछ मीठापन भी होता है। इस रस का भी नाम क्षीर है। पेड़ों से निकलने वाले पानी के सदृश सफेद रंग के प्रायः सभी प्रवाही पदार्थों का नाम क्षीर है। यहाँ तक कि गूलर, बरगद, थूहड़ और मदार तक से निकलने वाली सफेद चीज को हम लोग दूध ही कहते हैं। मृणालदंड पानी में रहते हैं। उन्हीं के भीतर से क्षीर तुल्य सफेद रस निकलता है। उसी रस को हंस पीते या खाते हैं। अतएव, इस तरह, पानी के भीतर से निकाल कर हंसों का दूध पीना जरूर सिद्ध है। अनुमान होता है कि आरम्भ में इसी प्रकार के नीर क्षीर के पृथक्त्व से पण्डितों का मतलब रहा होगा। धीरे-धीरे लोग वह बात भूल गये। उनकी यह समझ हो गई कि मामूली जल-मिश्रित दूध से हंस जल को पृथक् कर देते हैं और जल को छोड़कर दूध भर पी जाते हैं।

———

उसने कहा था

लेखक—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

प्रस्तुत कहानी हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कहानियों में एक है। कहानी का महत्त्व इतने से ही सिद्ध है कि इस एक कहानी ने गुलेरी जी को हिन्दी कथाकारों की प्रथम पंक्ति में स्थान दिला दिया है। इस चरित्र-चित्रण-प्रधान कहानी में कथाकार ने लहनासिंह के आदर्श प्रेम और त्याग का अत्यन्त प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। वस्तु-योजना के लिये प्रत्याभास पद्धति (Flash back technique) अपनाई गई है। सम्भवतः हिन्दी की यह पहली कहानी है जिसमें प्रत्याभास पद्धति का सफल प्रयोग किया गया है। मृत्यु के निकट पहुँचे हुए कथा-नायक के स्मृति-पटल पर उसके जीवन को गहराई तक प्रभावित करनेवाली कुछ घटनायें असम्बद्ध चित्रों के रूप में उभरती चली जाती हैं और ये कुछ चित्र नायक के व्यक्तित्व और उसके आदर्श-प्रेम के प्रभाव का रंग पाठक के मन पर भी उत्तरोत्तर उभारते चले जाते हैं। प्रतिपाद्य के अनुरूप घटनाओं के चुनाव के लिये ही इस पद्धति का सहारा लिया गया है। वाता-वरण को सजीव और यथार्थ बनाने के लिये कहानी में स्थानीय रंग (Local colour) का भी प्रयोग किया गया है। कहानी की प्रभविष्णुता इससे और अधिक बढ़ गई है।

उसने कहा था

(१)

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़कर, 'बचो खालसा जी,' 'हटो भाईजी', 'ठहरना भाई', 'जाने दो लालाजी, 'हटो बाछा' कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चिनौती देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए, हट जा करमावालिए, हट जा पुत्तां प्यारिए, बच जा लंबी वालिए। समष्टि

में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है ? बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

मगरे में;—और तेरे ?'

'माझे में, यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूं, उनका घर गुरुबजार में है।'

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जा कर लड़के ने मुस्करा कर पूछा—

'तेरी कुड़माई (=सगाई) हो गई ?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तब लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली—हाँ हो गई।'

'कब ?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई।

लड़के ने घर की राह ली । रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ोवाले (=खोमचेवाले) की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई । तब कहीं घर पहुंचा ।

(२)

"राम राम यह भी कोई लड़ाई है ! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं । लुधियाने से दसगुना जाड़ा, और मेह और बरफ ऊपर से । पिंड़लियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं । गनीम कहीं दिखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है । इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े । नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पच्चीस जलजले होते हैं । जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक् से गोली लगती है । न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं ।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं । चार तो खंदक में बिता ही दिए । परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी । अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे । उसी फिरंगी मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास है । फल और दूध की वर्षा कर देती है । लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती । कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो ।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी । बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही । मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय । फिर सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूं तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो । पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़

देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अंधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुस्कराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा?"

"सूबेदार जी, सच है"—लहनासिंह बोला—"पर करें क्या!" हड्डियों में जाड़ा धस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाईं में दोनों तरफ से चंबे के बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय!"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोयले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाईं का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाईं के दरवाजे का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।"

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाईं के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा (= पुरोहित) बन गया हूं। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण।" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा!"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूंगा और फलों के बूटे लगाऊंगा।"

"लाड़ी होरां (=स्त्री) को यहां बुला लोगे ? या वही दूध पिलानेवाली फिरंगी मेम —"

"चुपचाप कर ! यहां वालों को शरम नहीं ।"

"देश देश की चाल है । आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाखू नहीं पीते । वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है और मैं पीछे हटता हूं तो समझती है राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं ।"

"अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है ?"

"अच्छा है ।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ ! रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो । उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो । अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो । कहीं तुम मांदे न पड़ जाना ; जाड़ा क्या है मौत है और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते ।"

"मेरा डर मत करो । मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूंगा । भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आंगन के आम के पेड़ की छाया होगी ।"

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है ! मरे जर्मनी और तुरक ! हां भाइयो, कुछ गाओ !"

× × ×

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख गन्दे गीत गाएंगे पर सारी खंदक गीत से गूंज उठी और सिपाही ताजे हो गए, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों ।

दो पहर रात गई है । अंधेरा है । सन्नाटा छाया हुआ है । बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टीनों पर अपने कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल

ग्रौर एक बरानकोट ग्रोढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुग्रा है। एक ग्रांख खाईं के मुंह पर है ग्रौर एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुंह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दांत बज रहे हैं।"

"ग्रच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

"ग्रौर तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है ग्रौर मुझे गरमी लगती है, पसीना ग्रा रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए—"

"हां याद ग्राई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। ग्राज सबेरे ही ग्राई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना ग्रपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"ग्रौर नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी ग्रौर ग्राप खाकी कोट ग्रौर जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर ग्रा खड़ा हुग्रा। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

ग्राधा घंटा बीता। इतने में खाईं के मुंह से ग्रावाज ग्राई—

"सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हजूर !" कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुग्रा।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमे पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता हैं। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूं। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी बहस हुई। कोई रहना न चाहता, था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सीकड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढाकर कहा—

'लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला —"लाओ साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैदीयों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गए?

शायद साहब शराब पीये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजीमेंट में थे।

क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जाएँगे ?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश तुमको पसन्द नहीं ?"

"नहीं साहब शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पार साल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गए थे—हाँ, हाँ वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आप का खानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चाढ़ने को रह गया था ?" वेशक, पाजी कहीं का"— 'सामने से वह नीलगया निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठें में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मेस में लगाएँगे।', "हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया"—"ऐसे वड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे।"

"हाँ लहनासिंह दो फुट चार इञ्च के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?"

"पीता हूं साहब, दियासलाई ले आता हूँ'—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन ? वजीरासिंह।,

"हाँ, क्यों लहना? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?"

(३)

"होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्यों ?"

"लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुंह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा (=ससुरा) साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ; खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूं।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो!"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बांध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनीं पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आह ! माई गाड" कहते हुए चित हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब ! मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आए ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की ताबीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी

के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चली और लहना की जांघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया" और औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था और और लोग लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई "वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा।" और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों के पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई। वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा !! सत श्री अकाल पुरुष !!!" और लड़ाई खतम

हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई, लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया। ऐसा चांद जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती है। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन, और कागजात पाकर, उसकी तुरन्त-बुद्धि को सराह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाइँ वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है; सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार जी ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तूही कह देना उसने क्या कहा था।

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा था वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।"

(४)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ, कल हो गई' देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू!" सुनते

ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वजीरासिंह पानी पिला दे।"

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया है। उसे आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजीमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह को चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं; लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे।

सूबेदार का गांव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुंचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार बेड़े में से निकलकर आया। बोला—"लहना सुबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह पहुंचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं! कब से? रेजीमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना ?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटों-वाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली, पसली का घाव बह निकला।

"वजीरा, पानी पिला—उसने कहा था।"

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते

ही पहचान लिया। एक काम कहती हूं। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों [=स्त्रियों] की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगीं—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूं।" रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वजीरासिंह, पानी पिला—उसने कहा था।"

× × × ×

लहना का सिर अपनी गोद पर रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन? कीरतसिंह?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्टे पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ (आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना

बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह ग्राम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के आसूँ टप्-टप् टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

———

अमेरिका का मस्त योगी ह्विटमैन

लेखक—सरदार पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धों का हिन्दी निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। विषयपरक रागात्मक वृत्तियों और संवेगात्मक प्रभावों के बीच-बीच में आध्यात्मिक संस्पर्श दे देने से इन निबन्धों की भावात्मकता और बढ़ गई है। प्रस्तुत निबन्ध में अमेरिका के प्रसिद्ध कवि वाल्ट ह्विटमैन के व्यक्तित्व का भावात्मक चित्रण किया गया है। व्यक्तित्व व विशिष्ट अंश का शब्द-चित्र इसमें उतारा गया है। अतः कवि के व्यक्तित्व के उस विशिष्ट अंश को पाठकों के सम्मुख मूर्त्त करने में लेखक पूर्णतया सफल हुआ है। इससे चित्रण कौशल का वैशिष्ट्य सिद्ध होता है। रागात्मक वृत्तियों और संवेगात्मक प्रभावों की इसमें प्रधानता है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक रंग भी है। वर्णन पद्धति काव्यात्मक और भाषा आद्यंत आलंकारिक है। चित्रात्मकता और काव्यात्मक प्रभाव की सृष्टि के लिये उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों तथा अन्य काव्य-कौशलों का पूरा उपयोग किया गया है। भाषा का लाक्षणिक और सांकेतिक वैशिष्ट्य उनके अन्य निबन्धों की तरह इस निबन्ध में भी देखा जा सकता है।

अमेरिका का मस्त योगी वाल्ट ह्विटमैन

अमेरिका के लम्बे-लम्बे हरे देवदारों के घने वन में वह कौन फिर रहा है? कभी यहाँ टहलता है, कभी वहाँ गाता है।

एक लम्बा, ऊँचा, वृद्ध-युवक, मिट्टी-गारे से लिप्त, मोटे वस्त्र का पतलून और एक कोट पहने, नंगे सिर, नंगे पाँव और नंगे ही दिल अपनी तिनकों की टोपी मस्ती में उछालता, झूमता, जा रहा है। मौज आती है तो घास पर लेट जाता है। कभी नाचता, कभी चीखता और कभी भागता है। मार्ग में पशुओं को हरे तृण का भोज उड़ाते देख आनन्द में मग्न हो जाता है। आकाशगामी पक्षियों की उड़ान को देख हर्ष में प्रफुल्लित हो जाता है। जब कभी उसे परोपकार की सूझती है तब वह गोल-गोल श्वेत शिवशंकरों को उठा-उठाकर नदी की तरंगों पर बरसाता है। आज इस वृक्ष के नीचे विश्राम करता है, कल उसके नीचे बैठता है। जीवन के अरण्य में वह धूप और छाँह की तरह विचरता चला जाता है। कभी चलते-चलते अकस्मात् ठहर जाता है, मानो कोई बात याद आ गई। वार-वार गर्दन फेर-फेर और नेत्र उठा-उठाकर वह सूर्य को ताकता है। सूर्य को सुनहली सोहनी रोशनी पर वह मरता है। समीर की मन्द-मन्द गति के साथ वह नृत्य करता है, मानो सहस्रों वीणाएँ और सितार उसको पवन के प्रवाह में सुनाई देते हैं। इस प्राकृतिक राग की आँधी के सामने मानुषिक राग, दिनकर के प्रकाश में टिमटिमाती हुई दीप-शिखा के समान तेजोहीन प्रतीत होते हैं। उसके भीतर-बाहर कुछ ऐसी असाधारण मधुरता भरी है कि चंचरीक के समूह उसके साथ-साथ लगे फिरते हैं। उसके हृदय का सहस्रदल ब्रह्म-कमल ऐसा खिला है कि सूर्य

और चन्द्र भ्रमरवत् उस विकसित कमल के मधु का स्वाद लेने को जाते हैं। बारी-बारी से वे उसमें मस्त होकर बन्द होते हैं और प्रकाश पाकर पुनः बाहर आते हैं।

उस सुन्दर धवल केशधारी वृद्ध के वेश में कहीं न्यागरा की दूध धारा तो नहीं फिर रही है? यह मस्त वनदेव कौन है? चलता इस लटक से है मानो यही इस वन का राजा या गन्धर्व है। पत्ता-पत्ता, कली-कली, नली-नली, डाली-डाली, तने-तने को यह ऐसी रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखता है मानो सब इसी के दिलदार और यार हैं। सामने से वे दो कृषक-महिलायें दूध की ठिल्लियाँ उठाये गाती हुई आती हैं। क्या ही अलौकिक वह कोमल और ऊँचे, लम्बे और गहरे स्वरों में एक संदेशा देता जा रहा है। सभ्यता की नगरी से यह जोगी जितनी ही दूर होता जाता है उसका स्वर उतना ही गम्भीर होता जाता है।

वास्तव में मनुष्य स्वतन्त्रता-प्रिय है। किसी प्रकार के दासपन को वह नहीं सह सकता। आजकल अमेरिका में लोग अमीरी से तंग आ गए हैं। उनकी हँसी एक प्रकार की मिस्सी है जो किसी को मुख दिखाना हुआ कि झट मल ली। वहाँ घर और वस्त्रों को कफन और कब्र बनाकर मनुष्य-जीवन का प्रवाह दबाया जाता है। चमकता हुआ कलदार ही उस बाह्य जीवन को स्थिर रखने का वहाँ खुदा है। जैसे भारतवासी फोटो उतरवाते हैं उसी तरह आधुनिक कलदार-सभ्यता (डालर सिविलिजेशन) में जीते-जागते मनुष्यों को सुन्दर फोटो रूप बनकर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उनके आचरण हृदय-प्रेम के ताल में तुले नहीं होते, वे कृत्रिम होते हैं। वहाँ काव्य के नृसिंह भगवान् ह्विटमैन ने अपने उच्चनाद से हिन्दुओं की ब्रह्मविद्या और ईरान की सूफी विद्या को एक ही साथ घोषित किया है। वाल्ट ह्विटमैन के मत में वह मनुष्य ही क्या जो ब्रह्मनिष्ठ नहीं। वह एक मनुष्य के जीवन में मनुष्यमात्र का जीवन और मनुष्य मात्र के जीवन में

एक मनुष्य का जीवन देखता है। उसके काव्य का प्रवाह आकाशवत् सार्वभौम है। जैसे आकाश समस्त नक्षत्र आदि को उठाये हुए है उसी तरह उसका काव्य सब चर और अचर, नर और नारी को चमकते-दमकते तारों की तरह, अपने में लपेटे हुए है। वह सबके मन की कहता है और सब उसको अपने मन की बात बताते हैं। गरीबों को अमीर और अमीरों को गरीब करनेवाला कवि यही है। अपने आनन्द की मस्ती में उसे काव्य की तुकबन्दी भी बन्धन प्रतीत होती है। वह प्रत्येक दोहे-चौपाई को पिंगल के नियम की तराजू में नहीं, किन्तु अपने हृदयानन्द के ताल में तौलता है। जो लोग मिस्र के पिरीमिड को उत्तम कला-कौशल का नमूना मानते हैं उनकी सुन्दरता देखने की दृष्टि परदानशीनों की सी है। प्रकृति के बाह्य अनियमित दृश्य इन परदानशीनों के नियमित दृश्यों से कहीं बढ़-चढ़कर हैं। जो भेद समुद्र की छाती के उभार के प्रेमियों और एक युवती के वक्षस्थल के उभार के प्रेमियों में है, वही भेद ह्विटमैन के सदृश स्वतन्त्र काव्य-प्रेमियों और तुकबन्दी के प्रेमियों में है। बाग बनाना तो मानुषी कला है, और जंगल बनाना दिव्य कला है। चित्र बनाना तो जीतों को मुर्दा बनाना है और मुर्दा प्रकृति को जीवित संसार बना देना ब्रह्मकला है। दृश्य है। औरों को तो ये दो अबलायें अस्थि और मांस की पुतलियाँ ही प्रतीत होती हैं, परन्तु हमारे मस्तराम की आश्चर्यभरी आँखों को वे केवल बाँस की पोरियाँ ही दीखती हैं। उसकी निगूढ़ दृष्टि उनसे लड़ी। वे दोनों इस वृद्ध-युवक को आवारा समझ कुछ खफा हुईं, कुछ शरमाईं, कुछ मुसकराईं, उसने उनके मतलब को जान लिया। वह हँसा, खिलखिलाया और सलाम किया। नयनों से कुछ इशारे किए, आँसू बहाए। किसी की प्रशंसा की, कोई याद आया, किसी से हाथ मिलाया और उसे दिल दे दिया। यह दृश्य हमारे मस्त कवि का एक काव्य हुआ।

वे दो खोखले वृक्ष, वेश बदल कर और वृद्ध स्त्रियों का रूप बनाकर,

सामने नज़र आये। वे दोनों वृद्धायें हाथ में हाथ मिलाये कुछ अलापती जा रही हैं। उसने जिन दो पूर्व युवतियों, हुस्न की परियों, विकसित कलियों को देखकर अपना काव्य-प्रवाह बहाया था उसी पवित्र काव्यगंगा को वृद्धों के चरणों में भी छोड़ दिया। वह सौन्दर्य का कितना बड़ा पुजारी है। वह वस्तु में सुन्दरता ही सुन्दरता देखता है। क्यों नहीं, तत्त्ववित् है न। उसके अनुभव में आया है कि उसकी एकमात्र प्यारी नाना रूपों में प्रत्यक्ष हुई। प्रत्येक वस्तु सुन्दर है— क्या बाँस की लम्बी-लम्बी पोरियाँ और क्या वट के खोखले तने। या तो संसार की दृष्टि ही अपूर्ण है, या मेरी ही दृष्टि मदमाती है। उनमें अन्तर अवश्य है। जो आँख हर आँख में अपने ही प्यारे को देखती है वह भला तुम्हारी कला के पैमानों के कारागार में कैसे बन्द हो सकती है। बस सौन्दर्य का सच्चा पुजारी यही है। यह सबको सदा यही सुनाता है—"तुम भले, तुम भले।"

अमेरिका के वन में नहीं, जीवन के अरण्य में यह कौन जा रहा है? यह प्रकृति का बंभोला कौन है? यह वन का शाहदौला है कौन? यह इतना शरीफ अमीर होकर ऐसा रिन्द फकीर है कौन? अमेरिका वही मूर्ख (बहिर्मुख?), तत्त्वहीन, मशीन-रूपी नरक में यह जीता-जागता ब्रह्मज्ञानरूपी स्वर्ग कौन है? इसकी उपस्थिति मात्र से मनुष्य की आभ्यन्तरिक अवस्था बदल जाती है। अमेरिका की बहिर्मुख सभ्यता को लात मारकर बिरादरी और बादशाह से बागी होकर, कालीनों को जलाकर, महलों में आग लगाकर यह कौन जाड़ा मना रहा है? प्रभात की फेरी वाला, जंगल का जोगी, अमेरिका का स्वतन्त्र और मस्त फकीर वाल्ट ह्विटमैन अपनी काव्यरचना करता हुआ जा रहा है।

और कवि तो केवल चित्र बनाते हैं, परन्तु यह कवि जीते-जागते प्राणियों को अपने काव्य में भरता है। नीचे हम वाल्ट ह्विटमैन की पोयम्स आव् जाय (पोयम्स आव ज्वाय) नामक कविता के कुछ खंडों का तरजुमा, नमूने के तौर पर देते हैं—

४

अनन्द-काव्य

ओः कैसे रचूँ आनन्द भरी, रसभरी, दिल भरी कविता—
राग भरी, पुंस्त्व भरी, स्त्रीत्व भरी, बालकत्व भी,
संसार भरी, अन्न भरी, फल भरी, पुष्प भरी ॥१॥
ओः ! पशुओं की ध्वनि लाऊँ, मछलियों की फुर्ती,
और उनके तुले हुए तैरते शरीरों को लाऊँ।
चारों ओर हो विशाल समुद्र का जल, खुले समुद्र पर
हो खुले बादवाँ और चले हमारी नैया ॥२॥
ओः ! आत्मानन्द का दरिया टूटा, पिंजड़े टूटे,
दीवारें टूटीं, घर बह गये और शहर बह गये।
उस एक छोटी पृथ्वी से क्या होता है ? लाओ, दे दो सब
नक्षत्र मुझे, सब सूर्य मुझे, और सब काल मुझे ॥३॥

जो पृथ्वी है सो हम हैं, जो तारे हैं सो हम हैं, ओः हो ! कितनी देर हमने उल्लुओं के स्वर्ग में काट दी।

हम शिला हैं पृथ्वी में धँसे हैं, हम खुले मैदान हैं, साथ-साथ पड़े हैं; हम हैं दो समुद्र, जो आन मिले हैं।

पुरुष का शरीर पवित्र है, स्त्री का शरीर पवित्र है, फूलों का शरीर पवित्र है, वायु का शरीर पवित्र है, जल पवित्र है, धरती पवित्र है, आकाश पवित्र है, गोबर और तृण की झोपड़ी पवित्र हैं, सेवा पवित्र है, अर्पण पवित्र है। लो सब अपने आपको तुम्हारे हवाले करता हूँ। कोई भी हो तुम सारी दुनिया के सामने मेरे हो रहो।

———

एक पुरानी कथा

लेखक—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

इस कथात्मक निबन्ध में लेखक ने एक प्राचीन कल्पित कथा के माध्यम से अपने कथ्य को पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। पुरानी कथायें वस्तु-सत्य पर नहीं, बल्कि भाव-सत्य पर आधारित हैं। आधुनिक कथात्मक निबन्धों का उद्देश्य भी भाव-सत्य की ही अभिव्यक्ति होता है। किन्तु दोनों के अभिप्राय में प्राचीन और नवीन के दृष्टि-भेद के कारण तात्त्विक अन्तर है। कथा में निहित अभिप्राय से भिन्न निष्कर्ष की सिद्धि द्वारा परम्परागत प्राचीन मान्यताओं और आधुनिक मान्यताओं के भेद को भी स्पष्ट कर दिया गया है। लेखक का यही उद्देश्य भी है। मानव-मन की इच्छायें और वासनायें कभी भी पूर्णतया तृप्त नहीं होतीं, और कोई भी व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं होता, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अतः इस असन्तोष के परिणामस्वरूप यदि कोई व्यक्ति दुःखद स्थिति में पहुँच जाता है, तो दोष उस व्यक्ति का नहीं, बल्कि उन साधनों, उपकरणों और परिस्थितियों का है, जो उसकी वासनाओं को जाग्रत और उद्दीप्त करने के लिए उत्तरदायी हैं। यही इस निबन्ध का प्रतिपाद्य है।

एक पुरानी कथा

आज एक पुरानी कथा कहता हूँ। एक था मछुवा, एक थी मछुवी। दोनों किसी झाड़ के नीचे एक टूटी-फूटी झोपड़ी में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। मछुआ दिन भर मछलियाँ पकड़ता, मछुवी दिन भर दूसरा काम करती। तब कहीं रात में वे लोग खाने के लिए पाते। ग्रीष्म हो या वर्षा, शरद् हो या वसन्त, उनके लिए वही एक काम था, वही एक चिन्ता थी। वे भविष्य की बात नहीं सोचते थे, क्योंकि वर्तमान में ही वे व्यस्त रहते थे। उन्हें न आशा थी और न कोई लालसा।

पर एक दिन एक घटना हो गई। मछुवा जा रहा था मछलियाँ पकड़ने। नदी के पास एक छोटा सा गड्ढा था। उसमें कुछ पानी भरा था। उसी में एक कोने पर, लताओं में, एक छोटी सी मछली फँस गई थी। वह स्वयं किसी तरह पानी में नहीं जा सकती थी। उसने मछुवे को देखा और पुकारकर कहा—'मछुवे, मछुवे, जरा इधर तो आ।'

मछुवा उसके पास जाकर बोला—'क्या है?'

मछली ने कहा—'मैं छोटी मछली हूँ। अभी तैरना अच्छी तरह नहीं जानती। इसी से यहाँ आकर फँस गई हूँ। मुझको किसी तरह यहाँ से निकालकर पानी तक पहुँचा दे।'

मछुवे ने नीचे उतरकर लता से उसको अलग कर दिया। मछली हँसती हुई पानी में तैरने लगी।

कुछ दिनों के बाद उस मछली ने उसे फिर पुकारा—'मछुवे, मछुवे, इधर तो आ।' मछुवा उसके पास गया। मछली ने कहा—'सुनती हूँ, नदी में खूब

पानी है। मुझे नदी में पहुँचा दे। मैं तो तेरी तरह चल नहीं सकती। तू कोई ऐसा उपाय कर कि मैं नदी तक पहुंच जाऊँ।'

'यह कौन बड़ी बात है।' मछुवे ने यह कहकर एक वर्तन निकाला और उसमें खूब पानी भर दिया। फिर उसने उसी में उस मछली को रख कर नदी तक पहुंचा दिया। मछली नदी में सुरक्षित पहुंच गई और आनन्द से तैरने लगी।

कुछ दिनों के बाद उस मछली ने मछुवे को पुकारकर कहा—'मछुवे, तू रोज यहाँ आकर एक घण्टा बैठा कर। तेरे आने से मेरा मन बहल जाता है।,

मछुवे ने कहा—'अच्छा।'

उस दिन से वह रोज वहीं जाकर आध घंटा बैठा करता। कभी-कभी वह आटे की गोलियाँ बना कर ले जाता। मछली उन्हें खाकर उस पर और भी प्रसन्न होती।

एक दिन मछुवी ने पूछा—तुम रोज उसी घाट पर क्यों जाते हो?'

मछुवे ने उसको उस छोटी मछली की कथा सुनाई। मछुवी सुनकर चकित हो गई। उसने मछुवे से कहा—'तुम बड़े निर्बुद्धि हो! वह साधारण मछली है! वह तो कोई देवी होगी, मछली के रूप में रहती है। जाओ, उससे कुछ माँगो। वह जरूर तुम्हारी इच्छा पूरी करेगी।'

मछुवा नदी के तट पर पहुँचा। उसने मछली को पुकारकर कहा—'मछली, मछली, इधर तो आ।'

मछली आ गई। उसने पूछा—'क्या है?'

मछुवे ने कहा—'हम लोगों के लिए क्या तू एक अच्छा घर नहीं बनवा देगी?"

मछली—अच्छा जा, तेरे लिए एक घर बन गया। तेरी मछुवी घर में बैठी है।'

मछुवे ने आकर देखा कि सचमुच उसका एक अच्छा घर बन गया है। कुछ दिनों के बाद मछुवी ने कहा—'सिर्फ घर होने से क्या हुआ ? खाने-पीने की तो तकलीफ है। जा, मछली से कुछ धन माँग।'

मछुवा फिर नदी-तट पर गया। उसने मछली को पुकारकर कहा—'मछली, मछली इधर तो आ।'

मछली ने आकर पूछा—'क्या है ?'

मछुवे ने कहा—'सुन तो, क्या तू हमें कुछ धन न देगी ?'

मछली ने कहा—'अच्छा जा, तेरे घर में धन हो गया।'

मछुवे ने आकर देखा कि सचमुच उसके घर में धन हो गया है। कुछ दिनों के बाद मछुवी ने कहा—'इतने धन से क्या होगा ! हमें तो राजकीय वैभव चाहिए। राजा की तरह एक महल हो, उसमें बाग हो, नौकर-चाकर हों और राजकीय शक्ति हो। जा, मछली से यही माँग।'

मछुवी की बात सुन कर मछुवा कुछ हिचकिचाया। उसने कहा—'जो है, बहुत है।' परन्तु मछुवी ने उसकी एक बात न सुनी। उसने स्वयं मछली की दिव्य शक्ति देख ली थी। यही नहीं, एक बार जब मछली को आटे की गोलियाँ खिला रही थी, तब मछली से उसे आश्वासन भी मिल गया था। इसीसे उसने मछुवे को हठपूर्वक भेजा।

मछुवा कुछ डरता हुआ मछली के पास पहुँचा। उसने मछली को पुकारा और धीरे से कहा—'क्या तू मछुवी को रानी न बना देगी ?'

मछली ने कहा—'अच्छा जा, तेरी मछुवी रानी बनकर महल में अभी घूम रही है।'

मछुवे ने आकर देखा कि सचमुच उसके घर में राजकीय वैभव हो गया है। उसकी मछुवी रानी हो कर बैठी है।

कुछ दिनों के बाद मछुवी ने फिर कहा—'अगर सूर्य, चन्द्र मेघ आदि

सभी मेरी आज्ञा मानते तो कैसा होता !' यह सोचकर उसने मछुवे को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, मछली के पास भेजा।

मछुवे की बात सुन कर मछली रुष्ट होकर बोली—'जा, जा अपनी उस झोपड़ी में रह।'

मछुवा और मछुवी दोनों फिर अपनी उसी टूटी-फूटी झोपड़ी में रहने लगे ! यहीं कहानी का अन्त हो जाता है।

कहानी पुरानी है और घटना भी झूठी है। इसकी एक भी बात सच नहीं है, पर इसमें हम लोगों के मनोरथों की सच्ची कथा है। आकांक्षाओं का कब अन्त हुआ है ? इच्छाओं की क्या कोई सीमा है, पर मछुवे के भाग्य परिवर्तनों पर कौन उसके साथ सहानुभूति प्रकट करेगा ? सभी यह कहेंगे कि यह तो उसका ही दोष था। उसकी स्त्री को संतोष ही नहीं था। यदि उसे संतोष हो जाता तो उसकी यह दुर्गति क्यों होती ? मछुवे ने भी शायद यही कहकर अपनी स्त्री को झिड़का होगा। परन्तु मैं स्त्री को निर्दोष समझता हूं। मेरी समझ में दोष मछली का ही है। यदि वह पहले ही मछुवे को कह देती कि मुझमें सब कुछ करने की शक्ति नहीं है तो मछुवे की स्त्री उससे ऐसी याचना ही क्य करती ? यदि मछुवे की स्त्री में सन्तोष ही रहता, तो वह पहली ही बार अपने पति को माँगने के लिए क्यों कहती ? मछली ने पहले तो अपने वरदानों से यह बात प्रकट कर दी कि मानो वह सब कुछ कर सकती है। किन्तु जब मछुवे की स्त्री ने कुछ ऐसी याचना की, जो उसकी शक्ति के बाहर थी, तब वह एकदम क्रुद्ध होकर अभिशाप ही दे बैठी। उसने मछुवे के उपकार का भी विचार नहीं किया। वह यह भूल गई कि मछुवे ने यदि उस समय उस पर दया न की होती, तो शायद उसका अस्तित्व ही न रहता। उसने मछुवे से यह क्यों नहीं कहा – 'जा भैया, मैं तेरे लिए बहुत कर चुकी। अब मैं कुछ नहीं कर सकती। अपनी रानी को समझा देना।'

हम सभी लोग अपने जीवन में यही भूल करते हैं। हम लोग अपने दोषों

को छिपाकर दूसरों पर ही दोषारोपण करते हैं। हम दूसरे के कामों को महत्ता न देकर अपने ही कामों को महत्त्व देते हैं। हम यह तो निस्संकोच कहते हैं कि हमने किसी पर यह उपकार किया, पर हम यह नहीं बतलाते कि उसने हमारी क्या सेवा की, उससे हमें क्या लाभ हुआ। सच तो यह है कि उपकार और सेवा एक बात है और यह लेन-देन कुछ दूसरी बात है।

मछुवे की स्त्री ने जो कुछ किया, वह ठीक ही किया था। सभी लोग जानते हैं कि जब तक कोई वस्तु अप्राप्य रहती है, तभी तक उसके लिए बड़ी व्यग्रता रहती है। ज्योंही वह प्राप्त हो जाती है त्योंही हमें उससे विरक्ति हो जाती है, और हम किसी दूसरी वस्तु के लिए व्यग्र हो जाते हैं। हिन्दी की प्रेमकथाओं में उन्हीं नायिकाओं के लिए नायकों को व्यग्रता रहती है जिन पर उनका कोई अधिकार नहीं है। उस दिन मैंने एक प्रेमी का प्रेम-पत्र पढ़ा। उसमें विकलता थी। यदि प्रियतमा से उसकी भेंट हो जाती तो थोड़े दिनों के बाद उसे किसी दूसरी के लिए वही व्यग्रता होती।

जो बात प्रेम के लिए कही गई है वही गौरव, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि सभी बातों के लिए भी कही जा सकती है। अतएव मछुवे की स्त्री ने जो कुछ किया, वह मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल किया, परन्तु मछली ने जो कुछ किया, वह अपने देवी-स्वभाव के विरुद्ध किया। उसे तो मछुवे पर दया करनी चाहिए थी। उसे उसके उपकार को न भूलना था। राजा बनाने के बाद उसे एकदम भिक्षुक बना देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। यदि मैं मछुवा होता तो उससे कहता—देवी, मैंने तुम्हें जब जल में छोड़ा था, तब मैंने यह नहीं सोचा था कि तुम मुझे राजा बनाओगी। मैंने तो वह काम निःस्वार्थ-भाव से ही किया था। अपनी स्त्री के कहने से तुमको देवी समझकर मैंने याचना की। तुमने भी याचना स्वीकृत की। पर तुमने क्या मेरी स्त्री के हृदय में अभिलाषा नहीं पैदा कर दी? क्या तुमने उसके मन में यह आशा नहीं ला दी कि उसके लिए सब कुछ कर सकती हो? वह तो पहले अपनी स्थिति से संतुष्ट थी। तुम्हारे ही कारण उसके मन में अनेकों अभिलाषाएँ उत्पन्न हुई। तुमने उनको भी

पूर्ण किया। उसे तुम्हारी शक्ति पर विश्वास हो गया, तभी तो उसने ऐसी इच्छा प्रकट कर दी, जो तुम्हारे लिए असम्भव थी। तुमने जो कुछ दिया था उन सबको, इसी एक अपराध के कारण कैसे ले लिया? तुम्हारे वरदान का अन्त अभिशाप में कैसे परिणत हो गया? तुम्हें मेरी और मेरी स्त्री की स्थिति पर विचार कर काम करना चाहिए था। तुम भले ही देवी हो, पर तुममें त्याग नहीं है, प्रेम नहीं है, उपकार की भावना नहीं है, क्षमा नहीं है दया नहीं है।

—:०:—

क्रोध

लेखक—रामचन्द्र शुक्ल

भय, करुणा, ईर्ष्या, लोभ, क्रोध आदि विभिन्न मनोविकारों को लेकर शुक्ल जी ने कई निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों का हिन्दी निबन्ध साहित्य में विशिष्ट स्थान है। ये निबन्ध विषय-प्रधान और विचारात्मक हैं। मनोविकारों का यह सूक्ष्म विवेचन लेखक के निजी अनुभव पर आधारित है, मनोविज्ञान की पोथियों पर नहीं. प्रस्तुत निबन्ध में क्रोध के उदय, सामाजिक जीवन में उसकी आवश्यकता और उसके स्वरूप पर विचार करने के बाद, पर-दुःख-कातरता से उत्पन्न सात्त्विक क्रोध के सामाजिक महत्व और उसके आदर्श रूप को स्पष्ट किया गया है। विषय के शास्त्रीय और जटिल होते हुए भी इन निबन्धों में शास्त्रीय नीरसता कहीं नहीं आने पाई है। साहित्यिक सरसता के आकर्षण से युक्त इन निबन्धों में निबन्धकार के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है। विचार-प्रसंगों की उद्भावनाओं, प्रसंगगर्भी उक्तियों और चुभने वाले सूक्ष्म गहरे व्यंगों में व्यक्तित्व की यह झलक विशेष रूप से देखी जा सकती है।

क्रोध

क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है, यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख भाव प्रकट कर देता है। दुःख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध का उदय नहीं होता। दुःख के सज्ञान कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करनेवाला मनोविकार होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से परिचित हो जाने पर ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसे देखते ही अपने रोने में कुछ क्रोध का आभास देने लगता है।

सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाये जानेवाले बहुत से कष्टों को चिरनिवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो-चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल आह-ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं। उस दुष्ट के हृदय में विवेक, दया आदि उत्पन्न करने में बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामों के लिए नहीं दे सकता। भयभीत होकर भी प्राणी अपनी रक्षा कभी-कभी कर लेता है पर समाज में इस प्रकार प्राप्त दुःख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि क्रोध के समय क्रोध करनेवाले के मन में सदा भावी कष्ट से बचने

का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेत
सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए है ।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दुहराए जाने की संभावना कु
भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है, उस
रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप में देख
जाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जा रहे हैं। इन
से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुंचते-पहुंच
बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने
तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसे ए
तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जायगा, क्योंकि
उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ
और दुःख पहुंचने की कुछ भी सम्भावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा
उसमें स्वरक्षा की भावना भी मिली होगी।

हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सु
जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा य
कर्म शुद्ध प्रतिकार न कहलायेगा, क्योंकि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ
सहने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जायगी। इन दोन
दृष्टान्तों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होक
दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है, पर एक में वह परिणा
आदि का विचार बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए
इनमें से पहले दृष्टान्त का क्रोध उपयोगी नहीं दिखाई पड़ता। पर क्रोध
करनेवाले के पक्ष में उसका उपयोग चाहे न हो, परलोक के भीतर य
बिलकुल खाली नहीं जाता। दुख पहुँचानेवाले से हमें फिर दु
पहुँचने का डर न सही, पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड
से पहले तो उसी को शिक्षा या भलाई हो जाती है फिर समाज के औ

लोगों के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है। यहाँ पर भी यही बात है कि क्रोध के समय लोगों के मन में लोक-कल्याण की यही व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप में ही होता है।

यह कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है। अतः एक तो जहाँ कार्य-कारण के सम्बन्ध-ज्ञान में त्रुटि या भूल होती है वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध करनेवाला जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है, अपनी ओर नहीं। जिसने दुःख पहुँचाया है उसका नाश हो या उसे दुःख पहुँचे, क्रुद्ध का यही लक्ष्य होता है। न तो वह यह देखता है कि मैंने भी कुछ किया है या नहीं और न इस बात का ध्यान रखता है कि क्रोध के वेग में मैं जो कुछ करूँगा उसका परिणाम क्या होगा। यही क्रोध का अन्धापन है। इसी से एक तो मनोविकार ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, ऊपर से बुद्धि या विवेक भी उन पर अंकुश रखता है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि मन में दुःखदाता की शक्ति तथा उचित-अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही तो बड़ा अनर्थ खड़ा हो जाता है। जैसे यदि कोई सुने कि उसका शत्रु बीस-पचीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार और अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध किए उसे मारने के लिए अकेले दौड़ पड़े तो उसके मारे जाने में बहुत कम सन्देह समझा जायगा। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त, उसका उद्देश्य अच्छी तरह समझ लेने पर ही आवश्यक मात्रा और उपयुक्त स्थिति में ही क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिए उसका विकास होता है।

क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य हानि या पीड़ा पहुँचाने के पहले

आलम्बन में भय संचार करना रहता है। जिस पर क्रोध प्रकट किया जा[illegible] है वह यदि डर जाता है और नम्र होकर पश्चात्ताप करता है तो क्षमा [illegible] अवसर सामने आता है। क्रोध का गर्जन-तर्जन क्रोधपात्र के लिए भा[illegible] दुष्परिणाम की सूचना है, जिससे कभी-कभी उद्देश्य की पूर्ति हो जाती [illegible] और दुष्परिणाम की नौबत नहीं आती। एक की उग्र आकृति देख दूस[illegible] किसी अनिष्ट व्यापार से विरत हो जाता है या नम्र होकर पूर्वकृत दुर्व्यवहा[illegible] के लिए क्षमा चाहता है। बहुत स्थलों पर तो क्रोध का लक्ष्य किसी [illegible] गर्व चूर्ण करना मात्र रहता है अर्थात् दुःख का विषय केवल दूसरे का ग[illegible] या अहंकार होता है। अभिमान दूसरों के मान में या उसकी भावना [illegible] बाधा डालता है, इससे वह बहुत से लोगों को यों ही खटका करता है [illegible] लोग जिस तरह हो सके—अपमान द्वारा, हानि द्वारा – अभिमानी को नम्र करना चाहते हैं। अभिमान पर जो रोष होता है उसकी प्रवृत्ति अभिमान[illegible] को केवल नम्र करने की रहती है, उसको हानि या पीड़ा पहुँचाने का उद्देश[illegible] नहीं होता। संसार में बहुत से अभिमान का उपचार अपमान द्वारा [illegible] हो जाता है।

कभी-कभी लोग अपने कुटुम्बियों या स्नेहियों से झगड़कर क्रोध में अपन[illegible] ही सिर पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्रा[illegible] से ही नहीं होता, क्योंकि बिल्कुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता [illegible] जब किसी को क्रोध में अपना ही सिर पटकते या अंग-भंग करते देखे त[illegible] समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर[illegible] पटकने की परवाह है अर्थात् जिसे उसका सिर फूटने से उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी मनुष्य यह भी विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुंचाया है उसमें दुःख पहुँचा[illegible]

की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जा रहा था। मार्ग में कुश उसके पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदारी लेकर पहुंचा और कुशों को उखाड़-उखाड़कर उनको जड़ों में मट्ठा देने लगा। एक बार मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते-फूँकते थक गए। जब आग न जली तब उसपर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध अपरिष्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर-चूर किए आगे नहीं बढ़ते। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोविकार बहुत प्रबल पड़ जाता है तो वह अन्तः प्रकृति में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को बचपन से मिलती जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है, पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थकष्ट में होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शान्त कर लेते। पर यहां तो उस अबला के दुःख का कारण मूर्त्तिमान तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञान-पूर्वक रोकने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बंटाता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया ही का होता है। लोग यही कहते हैं कि 'उसने दया करके बचा लिया', यह कोई नहीं कहता है कि 'क्रोध करके बचा लिया।' ऐसे अवसरों पर यदि

क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती।

क्रोध शांति भंग करनेवाला विकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है। जिसके प्रति क्रोध-प्रदर्शन होता है वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुःख पर उसकी भी त्योरी चढ़ जाती है। यह विचार करनेवाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है वह उचित है या अनुचित। इसी से धर्म, नीति और शिष्टाचार तीनों में क्रोध के निरोध का उपदेश पाया जाता है। संत लोग तो खलों के वचन सहते ही हैं, दुनियादार लोग भी न जाने कितनी ऊँची-नीची पचाते रहते हैं। सभ्यता के व्यवहार में भी क्रोध नहीं तो क्रोध के चिह्न दबाए जाते हैं। इस प्रकार का प्रतिबन्ध समाज की सब सुख-शान्ति के लिए बहुत आवश्यक है। पर इस प्रतिबन्ध की भी सीमा है। यह 'परपीड़कोन्मुख क्रोध तक नहीं पहुँचता।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर धन के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्ध और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है, जिसे बातों में फँसा कर ठगना रहता है, उसकी कठोर से कठोर और अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नहीं करते पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है, न साधन।

क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। जिस क्रोध के त्याग का उपदेश दिया जाता है वह पहले प्रकार

के दुःख से उत्पन्न क्रोध है। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध बुराई की हद के बाहर समझा जाता है। क्रोधोत्तेजक दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा उतना ही लोक के क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। अपने दुःख से आगे बढ़ने पर भी कुछ दूर तक क्रोध का कारण थोड़ा बहुत अपना ही दुःख कहा जा सकता है—जैसे अपने आत्मीय या परिजन का दुःख, इष्टमित्र का दुःख। इसके आगे भी जहाँ तक दुःख की भावना के साथ कुछ ऐसी विशेषता लगी रहेगी कि जिसे कष्ट पहुँचाया जा रहा है वह हमारे ग्राम, पुर या देश का रहनेवाला है, वहाँ तक हमारे क्रोध के सौन्दर्य की पूर्णता में कुछ कसर रहेगी। जहाँ उक्त भावना निर्विशेष रहेगी वहाँ सच्ची परदुःख-कातरता मानी जायगी, वहीं क्रोध के स्वरूप को पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त होगा—ऐसा सौन्दर्य जो काव्यक्षेत्र के बीच भी जगमगाता आया है।

यह क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने आता है। स्वामी से सेवक कुछ कठिन होते ही हैं, उनमें कुछ अधिक कठोरता रहती है। पर यह कठोरता ऐसी कठोरता को भंग करने के लिए होती है जो पिघलनेवाली नहीं होती। क्रौंच के वध पर वाल्मीकि मुनि के कारण क्रोध का सौन्दर्य एक महाकाव्य का सौन्दर्य हुआ। उक्त सौंदर्य का कारण है निर्विशेषता। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर संपूर्ण लोक के दुःख की सहानुभूति छिपी है—राम के क्रोध के भीतर संपूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ है। क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध के सौन्दर्य का आरम्भ होता है। शिशुपाल की बहुत सी बुराइयों तक जब श्रीकृष्ण की क्षमा पहुँच चुकी तब जाकर उसका लौकिक लावण्य फीका पड़ने लगा और क्रोध की समीचीनता का सूत्रपात हुआ। अपने ही दुःख पर उत्पन्न क्रोध तो प्रायः समीचीनता ही तक रह जाता है, सौन्दर्य-दशा तक नहीं पहुँचता। दूसरे के दुःख पर उत्पन्न क्रोध में या तो हमें तत्काल क्षमा का अवसर या अधिकार ही नहीं रहता अथवा वह अपना प्रभाव खो चुकी रहती है।

बहुत दूर तक और बहुत काल से पीड़ा पहुँचाते चले आते हुए किसी घोर अत्याचारी का बना रहना ही लोक की क्षमा की सीमा है। इसके आगे क्षमा न दिखाई देगी—नैराश्य, कायरता और शिथिलता की छाई दिखाई पड़ेगी। ऐसी गहरी उदासी की छाया के बीच आशा, उत्साह और तत्परता की प्रभा जिस क्रोधाग्नि के साथ फूटती दिखाई पड़ेगी उसके सौन्दर्य का अनुभव सारा लोक करेगा। राम का कालाग्नि-सदृश क्रोध ऐसा ही है। वह सात्त्विक तेज है, तामस ताप नहीं।

दण्ड कोप का ही एक विधान है। राजदण्ड राजकोप है, राजकोप लोककोप और लोककोप धर्मकोप है। राजकोप धर्मकोप से जहाँ एकदम भिन्न दिखाई पड़े वहाँ उसे राजकोप न समझकर कुछ विशेष मनुष्यों का कोप समझना चाहिए। ऐसा कोप राजकोप के महत्त्व और पवित्रता का अधिकारी नहीं हो सकता। उसका सम्मान जनता अपने लिए आवश्यक नहीं समझ सकती।

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर यदि हमने क्रोध किया और वह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इसे स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध का वेग और उग्रता तो धीमी पड़ जाती है पर लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक हुआ करती है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय प्रायः नहीं देता, पर वैर उसके लिए बहुत समय देता है। सच पूछिए तो क्रोध और वैर का भेद केवल कालकृत है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करनेवाला मनोविकार क्रोध, और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करनेवाला भाव वैर है। किसी ने आपको गाली दी। यदि आपने उसी समय उसे मार दिया तो आपने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग

गया और दो महीने बाद आपको कहीं मिला। अब यदि आपने उससे बिना फिर गाली सुने, मिलने के साथ ही उसे मार दिया तो वह आपका वैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से वैर नहीं मानते। चूहे और बिल्ली के सम्बन्ध का 'वैर' नाम आलंकारिक है। आदमी का न आम-अंगूर से कुछ वैर है न भेड़-बकरे से। पशु और बच्चे दोनों क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं।

———

साधना

लेखक—राय कृष्णदास

राय कृष्णदास जी के गद्य-गीतों का हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। गद्य-गीतों में पद्यात्मकता या छन्दोबद्धता को छोड़कर गीत-काव्यों की प्रायः सभी प्रमुख विशेषतायें पाई जाती हैं। इनमें वैयक्तिक अनुभूतियों और भावनाओं की विशेष अभिव्यक्ति होती है। पृष्ठ-भूमि के रूप में अथवा अलंकार या प्रतीक के रूप में चित्रित प्रकृति भी लेखक की रचनाओं के रंग में रँगी होती है। गीतों की तरह इनमें भी भावान्विति (Unity of emotions) पर विशेष ध्यान रखा जाता है, अतः एक गद्य-गीत में एक ही अनुभूति या एक ही भाव की कुछ सूक्ष्म रेखाओं का चित्रण होता है। जहाँ तक अनुभूतियों के स्वरूप का प्रश्न है, ये प्रत्यक्ष जगत् से सम्बद्ध लौकिक अनुभूतियाँ भी हो सकती हैं और परोक्ष और अज्ञात जगत से सम्बद्ध रहस्यात्मक भी। राय साहब के इन गद्य-गीतों में रहस्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति ही विशेष रूप से हुई है। छन्दोबद्ध न होने पर भी लयात्मक प्रभाव (Rythmical effect) इनमें गीति-काव्यों जैसा ही दिखलाई पड़ता है। छायावादी गीति-काव्यों की तरह अभिव्यंजना-पद्धति लाक्षणिक और प्रतीकात्मक है।

साधना

निर्गुण वीणा

अनन्त काल से तुम्हारे बजाते रहने से वीणा के गुण ढीले पड़ गये हैं। सो अब यह बेसुरी बजती है और उलटा तुम्हारे बजाने की योग्यता पर संशय करती है !

प्रभो, इसके गुणों को कस दो, जिसमें यह सुर में बजे और इसका झूठा संशय जाता रहे।

नहीं, नहीं, ऐसा न करना। इससे गुणों को दूर बहाओ; जिसमें उनके ढीले पड़ने का प्रपञ्च एवं इसके मिथ्या संशय का कारण ही जाता रहे और यह निर्गुण भाव से नीरव लय का नित्य विस्तार करे और कृतकृत्य हो।

लज्जा

जब मैं देखता हूं कि तुम्हारे मन्दिर को मैंने ऐसा अशुचि और अस्वच्छ कर रखा है तब मैं लज्जित हो जाता हूं। परन्तु जब मैं देखता हूं कि तुम उसी में प्रेमपूर्वक विराज रहे हो तब तो मैं लज्जा से डूब ही जाता हूं।

जब मैं देखता हूं कि तुम मेरे लिए सब कुछ करते हो और मैं तुम्हीं से मुंह मोड़ता हूं तब मैं लज्जा से नतशिर हो जाता हूं, परन्तु जब मैं देखता हूं कि तुम मेरी उसी अवस्था में मेरे पास आते हो और उलटा मुझको ही मनाते हो तब तो ...।

जब मैं देखता हूं कि लज्जा के कारण मैं अपने भाव तुमसे छिपाता हूं तब मैं और भी लजा जाता हूं, परन्तु जब मैं देखता हूं कि तुम मेरे उन भावों को जान गये हो तब तो मेरी लज्जा का पारावार नहीं रहता।

स्वप्न मात्र

हे प्रियतम, इसका क्या कारण है कि तुम स्वप्न में ही मेरे पास आते हो और मुझे रिझाते हो, परन्तु ज्योंही मैं तुम्हें देखना चाहती हूँ, तुम आभा की भाँति ओझल हो जाते हो!

हे प्रियतम, इसका क्या कारण है कि तुम स्वप्न ही में मेरे पास आते हो और अपना सङ्गीत सुनाने लगते हो, पर ज्योंही वह मेरे कानों में पैठने लगता है, तुम मुझे गंभीर निद्रा में निमग्न कर देते हो!

हे प्रियतम, इसका क्या कारण है कि तुम स्वप्न ही में मेरे पास आते हो और मुझे आलिङ्गन करने के लिए हाथ फैलाते हो, पर ज्योंही मैं तुम्हारी ओर दौड़ती हूँ त्योंही शरद-घन-खण्ड की भाँति न जाने कहाँ विलीन हो जाते हो?

हे प्राणेश, क्या मैं इसका यही अर्थ करूँ कि तुम मुझे प्यार नहीं करते! पर जब तुम स्वप्न तक में मुझ पर इतनी दया दिखाते हो तब यह कैसे हो सकता है?

तो, क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि मैं समझ लूँ कि मैं सत्य हूँ और तुम मेरे स्वप्न मात्र हो?

बन्धन की आवश्यकता

यह न कहो कि मृदङ्ग भीतर से शून्य है। इसमें अनन्त तत्व भरा है।

कैसी विचित्र इसकी बनावट है। एक खोखले दारु-दण्ड पर दोनों ओर चमड़ा मढ़ा है, और वह गुणों से भली-भाँति जकड़ा है।

तुम्हारी थपकियों से कै वार इसने संसार को मोहित नहीं किया और कौन ऐसा मधुर घोष है जो इससे नहीं निकला?

किन्तु अब तुम क्या कर रहे हो। कहीं इसके गुणों को न निकाल डालना नहीं तो यह किस काम का रह जायगा। उन्हीं में बंधे रहने से तो यह अपनी मर्यादा में स्थित है।

केवल तुम्हीं

जब तुम मेरे पास आए तब मैं तुम्हारे लिए बिलकुल तैयार न था, पर तुमने उस पर ध्यान न दिया और मेरे पास बैठ गये।

मैं अपनी झंझटों में फँसा था सो मैंने तुम्हारी ओर देखा भी नहीं। किन्तु तुम मुझे जिस उपकरण की आवश्यकता होती, देते जाते।

मैं अपनी धुन में मस्त था।

सन्ध्या के समय शारीरिक श्रान्ति के कारण—कुछ मानसिक शान्ति से नहीं—मैं कामों से विरत हुआ।

कितने ही अंतरङ्ग मित्रों को मैंने बिठा रक्खा था। काम से विमुख होने पर उनसे वार्तालाप करने को कहा था। सोचा था कि जी बहलेगा। पर देखा कि वे सबके सब चल दिए। उनमें इतना धैर्य कहाँ! ठहरे एक तुम्हीं धन्य!

मैं गद्गद होकर तुम्हारे चरणों में लोटने लगता हूँ और अपनी चिन्ताओं को चिरकाल के लिए भूल जाता हूँ।

क्रय-विक्रय

खरीदना और बेचना

जिन मणियों को मैंने बड़े प्रेम से कृत्याकृत्य, सभी कुछ करके संग्रह किया था उनको उन्होंने मोल लेना चाहा। यदि दूसरे ने ऐसा प्रस्ताव किया होता तो मेरे क्षोभ का ठिकाना न रहता। अपने शौक की चीज बेचनी, कैसी उलटी बात है! पर न जाने क्यों उस प्रस्ताव को मैंने आदेश की भाँति अवाक् होकर शिरोधार्य्य किया।

मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा।

अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई।

उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि मणि से मेरा बदला करोगे?

मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्व-पूर्वक कहा अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिए। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो!

मैंने सहर्ष आत्म-अर्पण किया। वे मुस्कराकर बोले— तुम मुझे मोल लेने चले थे न?

मैं गद्गद हो उठा। आज परम मंगल हुआ, जिसे मैं अपनाना चाहता था उसने स्वयं मुझे अपना लिया।

अभिसार शृंगार

मेरा अभिसार भी कैसा अनोखा है।

भादों की अँधेरी रात है। काले-काले बादलों ने आकाश को आच्छादित कर लिया है, वे मानो अन्धकार में मार्ग न पाने से यहीं अटक गये हैं। बिजली तक का कहीं पता नहीं। क्या वह इन काले बादलों में ठंढी पड़ गई है, या अन्धकार के मारे चञ्चला चपला को भी घन-पटल से निकालने का साहस नहीं?

ऐसे समय मैं प्राणनाथ से मिलने निकला हूँ। न तो मेरे पास दीपक है, न मुझे मार्ग मालूम है, न उनका निवासस्थान ही। पृथ्वी पङ्कपूर्ण है वह मेरे पैर पकड़कर और प्रबल पवन पल-पल पर, मेरे कानों में, मुझे ऐसा दुस्साहस करने को मना करता है।

पर मैं चल पड़ा हूँ।

प्राणेश कहीं बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी चिन्तना की प्रतिध्वनि मेरे हृदय में हो रही है, जो मुझे स्थिर नहीं रहने देती और सागर की ओर भागीरथी की भाँति मैं उसी ओर आकृष्ट हुआ चला जा रहा हूँ।

मुझे सूझ नहीं पड़ता पर मेरे पैर ठीक-ठीक पड़ते हैं।

———

साहित्य

लेखक—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रस्तुत निबन्ध में 'साहित्य' के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया गया है। 'साहित्य' शब्द के प्रयोग और उसके अर्थ-विकास का इतिहास बतलाते हुए विद्वान् लेखक ने साहित्य की सीमा में आनेवाले वाङ्मय का स्वरूप-निर्धारण किया है। लेखक की दृष्टि में मानव-हृदय को प्रभावित करके उसकी उदात्त वृत्तियों को जाग्रत करनेवाला 'शक्ति-वाङ्मय' ही सच्चे अर्थ में साहित्य की सीमा के भीतर आ सकता है। इस कसौटी पर कसने पर, भक्तिकाल के अनेक उपदेशात्मक कवियों की रचनायें काव्य की संज्ञा नहीं पा सकतीं। निबन्ध अत्यन्त संगठित और विचारोत्तेजक है। विचारों की स्पष्टता और मौलिकता निबन्ध की विशेषता है।

वर्णना = प्रशंसा
चर्वणा = चबाना, चमकना, चखना।

साहित्य

'साहित्य' और 'वाङ्मय' दो शब्द संप्रति समानार्थक हो गए हैं। हिंदीवाले जिसे 'साहित्य' से प्रकट करते हैं, मराठीवाले उसके लिए 'वाङ्मय' का व्यवहार करते हैं। 'साहित्य' शब्द 'काव्य' के लिए कब से चला यह कहना कठिन है। पर 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के समय से इस अर्थ में इसका व्यवहार होने लगा इसे अनुसंधायक कहते हैं। 'साहित्य' में शब्द और अर्थ दोनों रहते हैं। दोनों समान शक्ति से रहते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं रहते, शिव-पार्वती की भाँति संपृक्त रहते हैं। पर आगे चलकर 'साहित्य' शब्द काव्य-मीमांसा के ग्रंथों के नाम के साथ मिलता है अर्थात् साहित्य के पेटे में काव्य और उसका शास्त्रा शास्त्र दोनों आ गए। काव्य 'वर्णना-चर्वणा' की कृति के लिए और साहित्य 'विचारणा' की कृति के लिए आने लगा। 'साहित्य' शब्द के अर्थ का संकोच हुआ। पर संप्रति विस्तार हो रहा है। अब वह 'वर्णना-चर्वणा' की कृति से उसकी 'विचारणा' की कृति तक ही अपने प्रभोग को नहीं रखना चाहता, किसी विषय के विचार-विवेक के ग्रंथ-समुदाय का भी बोध कराने लगा है। इस अर्थ के लिए दूसरा ही शब्द 'वाङ्मय' है। सार्थक वाणी का संकलित रूप वाङ्मय है। वेद जिनमें शब्द की प्रधानता है. पुराण जिनमें अर्थ की प्रधानता है, काव्य जिनमें शब्द-अर्थ सम भाव से रहते हैं और शास्त्र जिनमें किसी विषय की विस्तार-सीमा का शासन, विचार विवेचन होता है सभी 'वाङ्मय' हैं।

साधारणतः भ्रमवश पुस्तकाकार मुद्रित सभी सामग्री 'साहित्य' समझ ली जाती है। 'साहित्य' का तत्त्व 'लोकरंजन' माना जाय चाहे

अलौकिक रसास्वाद, वैयक्तिक, स्थानिक अथवा व्यापार-बुद्धि का अनुरंजक नहीं होता 'साहित्य'। इससे 'साहित्य' की सीमा का संकोच होता हो तो हो। जो पुस्तकाकार मुद्रित है वही 'साहित्य' नहीं। न जाने कितना लिखित साहित्य वेष्टनों में बँधा पड़ा है; मत्स्यकीट, दीमक तथा अन्य कीड़े-मकोड़े न जाने इस लिखित में से कितना चट कर गए। न जाने कितना लिखित साहित्य युद्ध, अभियान, अग्निदाह, बाढ़, बवंडर के कारण जल गया, गल गया, उड़ गया, मिट्टी में मिल गया; जिन्हें मुद्रित होने का सौभाग्य न मिला न मिलने की संभावना है। जो बचा है उसको और उसमें से सबको यह सौभाग्य मिलेगा यह भी अनिश्चित है। न जाने कितनी कृति लिख ही नहीं गई। मुख से निकली, कानों से टकराई, मन में समाई और समाप्त। न कर्ता ने लिखी, न श्रोता ने सँजोई। कुछ ग्राहकों के 'कंठ' में ही चक्रमण करती रही, लिपि के पथ पर आई ही नहीं। प्राचीन काल में जब मुद्रण-यंत्र का पता भी न था, वेद-शास्त्र की, नियम-आगम की, श्रुति-स्मृति की मौखिक परंपरा थी। एतावता पुस्तक या ग्रन्थ 'साहित्य' का पर्यायवाची या सभी अवस्था में उसका बोधक नहीं। पुस्तक का आकार धारण करने पर भी बहुत-सा आकलन 'साहित्य' नहीं। पुस्तकों के सूचीपत्र, विज्ञापन, रेलवे टाइमटेबुल, कैटलाग आदि पुस्तकाकार होकर, छपकर भी 'साहित्य' नहीं।

'साहित्य' की इस अनिश्चित धारणा का परिहार डी क्वेंसी के अनुसार वाङ्मय के दो विभिन्न रूपों का अन्तर समझ लेने से हो सकता है। ये दो बहुत स्पष्ट हैं। एक को 'ज्ञान-वाङ्मय' और दूसरे को 'शक्ति-वाङ्मय' कहना चाहिए। पहले का कार्य है, उपदेश शिक्षा या ज्ञान और दूसरे का संवेदन, आंतर स्पंदन, तल्लीनता। वाङ्मय नौका हो तो पहला पतवार है और दूसरा डाँड़ा या पाल। पहले का लगाव तर्क या बुद्धि से और दूसरे का लगाव मन या हृदय से है। 'शक्ति-वाङ्मय' से भी उपदेश या शिक्षा मिलती है, पर आरम्भ में वह मनोवेगों, अनुभूतियों आदि को उत्तेजित करता है। यदि ऐसी

शक्ति न हो तो उसे 'शक्ति-वाङ्मय' कहा ही क्यों जाय। परमार्थतः मानवों मनोवृत्तियों का विस्तार ज्ञान के विस्तार से कम नहीं। भ्रम यह है कि पुस्त का प्रयोजन ज्ञान का संपादन मात्र मान लिया गया है। शक्ति-वाङ्मय ध्येय ज्ञान-सम्पादन भी है, पर प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष। उसका प्रत्यक्ष साध्य हृद सम्पादन है, मानसावगाहन है। यह विरोधाभास कैसा! ज्ञान-सम्पादन किसी न किसी रूप में या किसी न किसी सोपान पर होता है तो एक को कुछ और दूसरे को कुछ क्यों कहा जाय। ज्ञान का तात्पर्य है सत्य की नूत उपलब्धि। 'शक्ति' में नूतन ज्ञान की नहीं, नूतन या अलौकिक या शु अनुभूति-लोक की प्राप्ति होती है। निर्बल के प्रति करुणा, अनाचारी के प्रति क्रोध, लोकोपकारी के प्रति श्रद्धा, सुन्दर या रुचिर के प्रति प्रेम आदि का उद ज्ञान की नूतनोपलब्धि से किसी प्रकार कम महत्वशाली नहीं। यदि जानकारी या ज्ञान ही प्रधान हो तो प्रश्न होता है कि 'रामचरितमानस' से आप क्या सीखते हैं? पर सिलाई की पुस्तक में आपको नई-नई बातें मिलेंगी। प्रत्ये अध्याय में प्रत्येक अनुच्छेद में, आपको ऐसी बातें मिलेंगी जो आपको पहले ज्ञात नहीं थीं। तो क्या सिलाई की साधारण पुस्तक 'रामचरितमानस' से ऊँची मानी जाय? 'मानस' से आप ज्ञानार्जन नहीं करते, पर उससे 'भवारनिवृत्ति' अवश्य मिलती है। हम रागद्वेषमय जीवन, लौकिक परिस्थिति से मुक्ति पा जीवनमुक्त हो अनुभूति में लीन हो जाते हैं, रज-तम की अंधता वा अंधका को पीछे छोड़ या नीचे कर सत्त्व के प्रकाशमय अलौकिक लोक में पहुँच जाते हैं, चिन्मय हो जाते हैं, अनुभूति मात्र रह जाते हैं। परिस्थितियों से ऊप उठना क्या सिलाई की पोथी सम्भव है या इसी प्रकार की अन्य पोथियों या ग्रन्थों से सम्भाव्य है? 'शक्ति-वाङ्मय' की अनुभूति अलौकिक इसी अर्थ में है कि वह रागद्वेषमय जीवन से हमें ऊपर उठा देता है।

शरीर के स्नायु व्यायाम से ठीक रहते हैं, रक्तसंचार समुचित रीति से होता रहता है। 'शक्ति-वाङ्मय' मन का व्यायाम कराता है। यदि यह व्यायाम

न हो तो मन में जकड़बंदी हो जाती है, विकार संचित हो जाता है। ऊपर उठना तो दूर, जो जिस परिस्थित में है वहीं का वहीं पड़ा रह जाता है। भारत में पुराणों और काव्यों के सामूहिक श्रवण का नियम बहुत दिनों से है। यह मानस-व्यायाम की योजना है। भारतीय साहित्य-शास्त्र काव्य के दो ही प्रमुख भेद मानता है—दृश्य और श्रव्य। दृश्य या श्रव्य नाम सामूहिक संमिलन से ही चरितार्थ हो सकता है। पाठ्य होकर व्यक्ति की सीमा में ही रहेगा। सामुदायिक भाव (कलेक्टिव इमोशन) का ध्यान यहाँ के साहित्य को आरम्भ ही से रहा

आजकल यथार्थ, अतियथार्थ का कोलाहल साहित्य-क्षेत्र में बहुत हो रहा है और आदर्श को कृत्रिम, अनुपयोगी कहा जा सकता है। पर यह नहीं सोचा जाता है कि काव्य, नाटक, उपन्यास या कथा-कहानी में आदर्श के नाम पर न्याय, सत्य, करुणा आदि की उदात्त वृत्तियों के उद्दीपन-संदीपन का जो आयोजन किया जाता है वह इसलिए कि यदि वास्तविक प्रकृति या यथार्थ जीवन तक ही साहित्य की ये शाखाएँ रह जायँ तो उदाहरण के अभाव में उन उदात्त वृत्तियों का विनाश हो जायगा। भारतीय अपने काव्य-ग्रन्थ सुखान्त क्यों रखते थे? पश्चिमी साहित्य में जिसे काव्यगत न्याय (पोयटिक जस्टिस) कहते हैं वह योजना क्यों हो? इस विधान से जिस न्याय-नीति की विजय दिखाई जाती है उसे साधारणतया जागतिक न्याय-नीति से भिन्न समझा जाता है। भिन्नता मात्रा में होती है। स्वरूप में भिन्नता नहीं होती। काव्य की न्यायनीति उसके विधाता के शासन में रहती है। वह इच्छानुरूप परिणाम घटित कर सकता है।

यदि शक्ति-वाङ्मय या साहित्य न होता तो जीवन में भी सरसता कथमपि न आ सकती। हमारी मनोवृत्तियाँ नीरस, रूखी-सूखी ही रह जातीं। उनका विकास, परिष्कार-संस्कार न हो पाता। मनुष्य पशु ही रह जाता। साहित्य

मनुष्य को मनुष्य बनाये रखने के लिए है। उसे सामान्य मानवता, पशुत्व दानवत्व आदि से ऊपर करके पूर्ण मानव, देवत्व का वरदान देनेवाला है। यह सोलह आने सत्य है कि साहित्य-साधना से पराङ्मुख प्रायः पशु रह जाता है।

कोई कृति कोरा उपदेश देकर यह कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती जो साहित्य का हो सकता है। कोरा उपदेश 'साहित्य' नहीं है, ऐसा उपदेश चाहे वेद का हो, चाहे साक्षात् ब्रह्म ही ने क्यों न दिया हो, सिद्ध-संत, महात्मा-फकीर, पीर-पैगम्बर के कोरे उपदेश, किसी संप्रदाय के नीति-नियम की शिक्षा 'साहित्य' नहीं। जो रचना मनोवेगों को उद्दीप्त, उत्तेजित, प्रबुद्ध नहीं कर सकती वह साहित्य नहीं। भावोद्दीपन साहित्य का प्रथम कार्य है। इसके अनन्तर यदि उपदेश-शिक्षा भी मिले तो मिले। तुलसीदासजी की रचना दोनों काम करती है—भावोद्बोधन भी और उपदेश-दान भी। उद्बोधन प्रधान है, उपदेश-दान गौण। पर सूरदास की रचना भावोत्तेजन ही करती है, उपदेश से उसे प्रयोजन नहीं। साहित्य दोनों हैं। किन्तु कबीर की रचना उपदेश तो देती है पर भावोन्मेष नहीं लाती। उनके उपदेशों को अत्यन्त ऊँचा मानकर भी उसे 'साहित्य' या 'काव्य' कहने में बहुतों को संकोच होता है। यहीं यह भी स्पष्ट कर देना है कि किसी कृति को साहित्य न मानने या कहने का यह तात्पर्य नहीं कि जीवन के दूसरे क्षेत्र या वाङ्मय के अन्य रूप में भी वह उत्तम नहीं है। यदि सन्तों के अन्ध-समर्थक बुरा न मानें तो कहा जा सकता है कि किसी महात्मा को रचना होने से कोई कृति साहित्य नहीं होती। साहित्य में आदिकाल से ऐसी बहुत-सी रचना मिलती हैं जिसका कर्ता नीति-नियम या समाज की मर्यादा, धर्मशास्त्र अथवा सन्तोपदेश की दृष्टि से दुरात्मा या दुराचार ही कहा जा सकता है। 'साहित्य' की दृष्टि निर्माता-विधाता की ओर नहीं होती, निर्मिति की ही ओर होती है। न जाने कितने कवियों का जीवन अज्ञात ही रह जाता है, हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों तक का जीवनवृत्त नहीं मिलता। इसी

है कि साहित्य को निर्माता की चिन्ता नहीं होती। पश्चिमी आलोचना जो कहती है कि निर्माण को देखो निर्माता को नहीं, उसमें कुछ सत्य है

राजशेखर भी वाङ्मय के दो भेद करते हैं—'काव्यं शास्त्रं चेति वाङ्मयं द्विधा'। काव्य अविचारित रमणीय होता है। 'अविचारित' का अर्थ है स्वतः-निःसृत, विचार-उपदेश से रहित, सामान्य विचार-परम्परा से भिन्न, कल्पनारूढ मात्र नहीं। 'अविचारित' का अर्थ 'बेसिरपैर का' नहीं है,। शास्त्र 'विचारित सुस्थ' होता है पर उसमें विचार की व्यवस्था होती है, कहीं से भी त्रुटि-दोष नहीं रहता। पर उसमे 'रमणीयता' नहीं होती। साहित्य में 'रमणीयता' का विशेष महत्व है। पर यह हो सकता है कि कोई कृति विशेष हेतुओं से रमणीय न होने पर भी किसी को रमणीय जान पड़े अथवा यह भी हो सकता है कि कोई रचना किसी को रमणीय होते हुए भी वैसी न जान पड़े। इसी से शास्त्र की उत्तमता के पारखी तो ज्ञानी-विज्ञानी, मतिमान-तार्किक ही माने जाते हैं, पर काव्य का साहित्य के पारखी 'सहृदय' होते हैं। ज्ञान का क्षेत्र बुद्धि है,: शक्ति का क्षेत्र हृदय है। कभी-कभी दोनों का सांकर्य भी होता है। अत प्रधान-गौण या साध्य-साधन की दृष्टि से निर्णय किया जा सकता है।

ज्ञान-वाङ्मय को पराजय का भय रहता है, शक्ति-वाङ्मय को नहीं। ज्ञान-विज्ञान की दूसरी अच्छी पुस्तक निकल गई, पहली को ही दूसरे क्रम से किसी ने सजाकर रख दिया तो पहली का महत्व घट गया। पर शक्ति-वाङ्मय विजयिनी सत्ता है। किसी विषय पर शत-सहस्र ग्रन्थों के निकलने पर भी उसके प्रथम के या किसी ग्रन्थ का महत्व नष्ट नहीं होता। सब अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। ज्ञान और शक्ति अथवा विज्ञान और साहित्य में तत्वतः प्रकार-भेद है—नर-नारी की भाँति। मात्रा-भेद नहीं है—पहाड़-पहाड़ी की भाँति। दोनों में असमानता है। एक को दूसरा नहीं कह सकते। दोनों के विश्लेषण के मानदण्ड भी इसी से भिन्न हो सकते हैं। पर भिन्न होते हुए भी दोनों एक

दूसरे के पूरक हो सकते हैं। यह समझ ठीक नहीं कि साहित्य और विज्ञान कभी मिल ही नहीं सकते। 'साहित्य' में जीवन की स्वाभाविक सरणि का सामग्री के रूप में उपयोग होता है, पर उसकी अपनी अनुभूति स्वाभाविक सरणि की अनुभूति से भिन्न या परिष्कृत होती है। उसमें सुख-दुःख की ऐसी निर्विशेष अनुभूति होती है जिसे केवल 'आनन्द' कहा गया है। उसका अन्तर्भाव किसी दूसरे वाङ्मय में नहीं हो सकता। उसकी स्वच्छंद सत्ता है, उसमें सरसता की कोटियाँ हैं, विविधता है। मम्मटाचार्य ने कहा ही है—

> नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
> नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

———

आम फिर बौरा गये

लेखक -हजारीप्रसाद द्विवेदी

व्यक्तिव्यंजक निबन्ध लिखनेवाले निबन्धकारों में द्विवेदीजी का विशिष्ट स्थान है। व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का आदर्श रूप इनके निबन्धों में दिखलाई पड़ता है। ऐसे निबन्धों में निबन्धकार विषय से बँधा नहीं रहता। व्यक्तिव्यंजक निबंध में शीर्षक रूप में दिये गये विषय का नहीं, बल्कि उस विषय के माध्यम से उद्दीप्त भावों, विचारों और घटनाओं के अनुषंगों (Associations) का विशेष महत्त्व होता है। अतः ऐसे निबन्धों में तर्कपूर्ण शृंखला और तर्कपूर्ण अन्विति (Logical unity) नहीं होती। उसमें भावों और विचारों की चरम परिणति से उत्पन्न प्रभाव की अन्विति होती है और वही कुछ सीमा तक लेखक की स्वच्छन्द कल्पना और उसकी स्वच्छन्द विचार-धारा का नियंत्रण करती है। 'आम फिर बौरा गये' में ये सभी विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं। आम्र मंजरी की घटना के अनुषंग से भारतीय साहित्य और संस्कृति से सम्बद्ध अनेक घटनाओं और विचार-प्रसंगों का क्रमशः लेखक के मन में स्फुरण होता है और वह उन्हें ज्यों का त्यों आत्मीय भाव से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर देता है। इन विचार-प्रसंगों और भावनाओं का समन्वित प्रभाव पाठक के मन पर डालना ही लेखक का उद्देश्य है। द्विवेदीजी के अन्य व्यक्तिव्यंजक निबन्धों की तरह इस निबन्ध में भी भारतीय संस्कृति के गहन अध्ययन की छाप और चिन्तन की मौलिकता दिखलाई पड़ती है। शैली में प्रसंग के अनुरूप भाषण जैसा प्रवाह और आत्मीयतापूर्ण वार्ता जैसी सहजता है। रोचक प्रसंगों के बीच-बीच में व्यंग-विनोद और सूक्ष्म व्यंग का पुट होने से इन निबन्धों की रोचकता और आत्मव्यंजकता और बढ़ गई है।

आम फिर बौरा गये

वसंतपंचमी में अभी देर है पर आम अभी से बौरा गये। हर साल ही मेरी आँखें इन्हें खोजती हैं। बचपन में सुना था कि वसंतपंचमी के पहले अगर आम्रमंजरी दिख जाय तो उसे हथेली में रगड़ लेना चाहिए। क्योंकि ऐसी हथेली साल भर तक बिच्छू के जहर को आसानी से उतार देती है। बचपन में कई बार आम की मंजरी हथेली पर रगड़ी है। अब नहीं रगड़ता। पर वसंतपंचमी के पहले जब कभी आम्रमंजरी दिख जाती है तो बिच्छू की याद अवश्य आ जाती है। सोचता हूँ, आम और बिच्छू में क्या संबंध है ? बिच्छू ऐसा प्राणी है जो आदिम सृष्टि के समय जैसा था, आज भी प्रायः वैसा ही है। जल-प्रलय के पहलेवाली चट्टानों की दरारों में इसका जैसा शरीर पाया गया है, आज भी वैसा ही है। कम जन्तु इतने अपरिवर्तनशील रहे होंगे। उधर आम में जितना परिवर्तन हुआ है उतना बहुत कम वस्तुओं में हुआ होगा। पंडित लोग कहते हैं कि 'आम्र' शब्द 'अम्र' वा 'अम्ल' शब्द का रूपान्तर है। 'अम्र' अर्थात् खट्टा। आम शुरू-शुरू में अपनी खटाई के लिए ही प्रसिद्ध था। वैदिक आर्य लोगों में इस फल की कोई विशेष कदर नहीं थी। वहाँ तो 'स्वादु उदुम्बरम्' या जायकेदार गूलर ही बड़ा फल था। लेकिन 'अमृत' शब्द कुछ इसी 'अम्र' का रूपान्तर रहा होगा। पहले शायद सोमरस के खटाये हुए रूपकों को ही 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) कहते होंगे। बाद में 'आम्र' संसार का सबसे मीठा फल बन गया और 'अम्रित' अमृत बन गया। अपना-अपना भाग्य है। शब्दों के भी भाग्य होते हैं। परन्तु यह सब अनुमान ही अनुमान है। सच भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। पंडितों से कौन लड़ता

फिरे ! लेकिन बिच्छू के साथ आम का संबंध चक्कर में डाल देनेवाला है अवश्य मैं जब आम की मनोहर मजरियों को देखता हूँ, तब बिच्छू की याद आ जाती है। बिच्छू—जो संसार का सबसे पुराना, सबसे खूँसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है ! प्रायः मोहक वस्तुओं को देखकर मनहूस लोगों की याद आ जाती है ! सबको आती है क्या ?

जरा तुक मिलाइये। आम्रमंजरी मदन देवता का अमोघ बाण है और बिच्छू मदनविध्वंसी महादेव का अचूक बाण है। योगी ने भोगी को भस्म कर दिया, पर भोगी का अस्त्र योगी के अस्त्र को व्यर्थ बना रहा है। कुछ ठिकाना है इस वेतुकेपन का। परन्तु सारी दुनिया—यानी बच्चों की दुनिया !—इस बात को सच मानती आ रही है।

परसाल भी मैंने वसन्तपंचमी के पहले आम्र-मुकुल देखे थे। पर बड़ी जल्दी वे मुरझा गये। उसी आम को दुबारा फूलना पड़ा। मुझे बड़ा अद्भुत लगा। आगे-आगे क्यों फूलते हो बाबा, जरा रुक के ही फूलते। कौन ऐसी यात्रा बिगड़ी जाती थी। मेरे एक मित्र ने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नवल वधू के समान यह बिचारी आम्रमंजरी जरा-सा झाँकने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसों को देखकर लजा गयी ! वस्तुतः यह मेरे मित्र की कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कहीं मुँह दिखलाने लायक न रहता पर मुझे इतिहास की बात याद आ गयी। उससे मैं आश्वस्त हुआ, मनहूस कहाने की बदनामी से बच गया। वह इतिहास मनोरंजक है। सुनाता हूँ।

बहुत पहले कालिदास ने इसी प्रकार एक बार आम्र-मंजरी को सकुचाते देखा था। शकुन्तला नाटक में वे उसका कारण बता गये हैं। दुष्यन्त पराक्रमी राजा थे। उनके हृदय में एक बार प्रिया-वियोग की विषम ज्वाला जल रही थी, तभी वसन्त का पदार्पण हुआ। राजा ने वसन्तोत्सव न करने की आज्ञा

दी। आम विचारा बुरी तरह छका। इसका स्वभाव थोड़ा चंचल है। वसन्त आया नहीं कि व्याकुल होकर फूट पड़ता है। उस बार भी हजरत पुलकित हो गये। तब तक राजा की आज्ञा हुई। बेवकूफ बनना पड़ा। इन कलियों के रूप में मदन देवता ने अपना बाण चढ़ाया था। विचारे अर्धखिचे धनुष के बाण समेटने को बाध्य हुए 'शंके संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्।' आजकल दुष्यन्त जैसे प्रतापी राजा नहीं हैं। पर पिछली बार भी जब मदन देवता को अपना अर्धकृष्ट शर समेटना ही पड़ा था तो कैसे कहा जाय कि वैसे प्रतापी लोग अब नहीं हैं? जरूर कोई-न-कोई पराक्रमी मनुष्य कहीं-न-कहीं विरह-ज्वाला में सन्तप्त हो रहा होगा। कार्य जब है तो कारण भी होगा ही। इतिहास बदल थोड़े जायगा। और इस घटना के बाद जब कोई कालिदास को मनहूस नहीं कहता तो मुझे ही क्यों कहेगा?

आशा करता हूँ, इस बार आम्र-मंजरी को मुरझाना नहीं पड़ेगा। आहा, कैसा मनोहर कोरक है। बलिहारी है इस 'आताम्र-हरितपांडुर' शोभा की। अभी सुगन्धि नहीं फैली है किन्तु देर भी नहीं है। कालिदास ने आम्र-कोरकों को वसन्त-काल का 'जीवितसर्वस्व' कहा था। उन दिनों भारतीय लोगों का हृदय अधिक संवेदनशील था। वे सुन्दर का सम्मान करना जानते थे। गृहदेवियाँ इस लाल-हरे-पीले आम्रकोरक को देखकर आनन्द-विह्वल हो जाती थीं। वे इस 'ऋतुमंगल' पुष्प को श्रद्धा और प्रीति की दृष्टि से देखती थीं। आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है। पुरानी बातें पढ़ने से ऐसा मालूम होता है जैसे कोई अधभूला पुराना सपना है। रस मिलता है पर प्रतीति नहीं होती। एक अजब आवेश के साथ पढ़ता हूँ—

आत्तम्महरियपाण्डुर जीवितसव्वं वसन्तमासस्स।
दिट्ठोसि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि॥

आम्रकोरकों को प्रसन्न करने की बात भावोच्छ्वास की बहक के समान

सुनायी देती है। मनुष्य-चित्त इतना नहीं बदल गया है कि पहचान में ही न आये। पहले लोग अगर आम्रकोरक देखकर नाच उठते थे तो इन दिनों कम से कम उछल जरूर पड़ना चाहिए। पुष्पभार से लदे हुए आम्र-वृक्ष को देखकर सहज भाव से निकल जानेवाले सैकड़ों मनुष्यों को मैंने अपनी आँखों देखा है। कोई नाच नहीं उठता। परन्तु एक बार मैं भी थोड़ा विह्वल हुआ था और एक कविता लिख डाली थी। छपायी तो अब भी नहीं है, पर सोचता हूँ छपा देनी चाहिए। बहुत होगा लोग कहेंगे, कविता में कोई सार नहीं है। कौन बड़ा कवि हूँ जो अकवि कहाने की बदनामी से डरूँ। यह कविता आम्रकोरकों की अद्भुत विह्वलकारिणी शक्ति की परिचायक होकर मेरे पास पड़ी हुई है।

कामशास्त्र में सुवसन्तक नामक उत्सव की चर्चा आती है। सरस्वती-कण्ठाभरण में लिखा है कि सुवसन्तक वसन्तावतार के दिन को कहते हैं। वसन्तावतार अर्थात् जिस दिन वसन्त पृथ्वी पर अवतरित होता है। मेरा अनुमान है, वसन्तपंचमी ही वह वसन्तावतार की तिथि है। मात्स्यसूक्त और हरिभक्ति-विलास आदि ग्रंथों में इसी दिन को वसन्त का प्रादुर्भाव-दिवस माना गया है। इसी दिन मदन देवता की पहली पूजा विहित है। यह भी अच्छा तमाशा है। जन्म हो वसन्त का और उत्सव मदन देवता का। कुछ तुक नहीं मिलता। मेरा मन पुराने जमाने के उत्सवों को प्रत्यक्ष देखना चाहता है पर हाय! देखना क्या संभव है? सरस्वती-कण्ठाभरण से महाराज भोजदेव ने सुवसन्तक की एक हल्की-सी झाँकी दी है। इस दिन उस युग की ललनाएँ कण्ठ में कुवलय की माला और कान में दुर्लभ आम्रमंजरियाँ धारण करके गाँव को जगमग कर देती थीं—

छणपिट्ठ धूसरत्थणि, महुमअतम्मच्छि कुवलआहरणे।
कण्णकअ चूअमंजरि, पुत्ति तुए मंडिओ गामो॥

पर यह अपेक्षाकृत परवर्ती समाचार है। इसके पहले क्या होता था? क्या वसन्त के जन्मदिन को मदन का जन्मोत्सव मनाया जाता था? धर्मशास्त्र की पोथियों में लिखा है कि वसन्तपञ्चमी के दिन मदन देवता की पूजा करने से स्वयं श्रीकृष्णचंद्रजी प्रसन्न होते हैं। यह और मजेदार बात निकली। तांत्रिक आचार से विष्णु भजन करनेवाले बताते हैं कि 'काम-गायत्री' ही श्रीकृष्ण-गायत्री है। तो कामदेव और श्रीकृष्ण अभिन्न देवता हैं? पुराणों में लिखा है कि कामदेवता श्रीकृष्ण के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुए थे। वह कथा भी कुछ अपने ढंग की अनोखी ही है। कामदेव प्रद्युम्न के रूप में पैदा हुए और शम्बर नामक मायावी असुर उन्हें हर ले गया और समुद्र में फेंक दिया। मछली उन्हें खा गयी। संयोगवश वही मछली शम्बर की भोजनशाला में गयी और बालक फिर उसके पेट से बाहर निकला। कामदेवता की पत्नी रतिदेवी वहाँ पहले से ही मौजूद थीं। और ऐसे मौकों पर जिस व्यक्ति का पहुंचना नितान्त आवश्यक होता है, वे नारद मुनि भी वहाँ पहुंच गये। रति को सारी बातें उन्हीं से मालूम हुई। प्रद्युम्न पाले गये, शम्बर मारा गया, श्रीकृष्ण के घर में पुत्र ही नहीं, पुत्रवधू भी यथासमय पहुंच गयी, इत्यादि-इत्यादि। पुराणों में असुर प्रायः ही शैव बताये गये हैं। कामदेव उनके दुश्मन हों यह तो समझ में आ जाता है, भागवतों से उसका सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ? मेरा मन अधभूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मंडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज नजर आयी नहीं कि झपाटा मारा। पर कुछ दीख नहीं रहा है। सुदूर इतिहास के कुज्झटिकाच्छन्न नभोमंडल में कुछ देख लेने की आशा पोसना ही मूर्खता है। पर आदत बुरी चीज है। आर्यों के साथ असुरों, दानवों और दैत्यों के संघर्ष से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह-रहकर मेरा ध्यान मनुष्य की इस अद्भुत विजय-यात्रा की ओर खिंच जाता है। कितना भयंकर संघर्ष वह रहा होगा जब घर में पालने पर सोये हुए लड़के तक चुरा लिए जाते रहे होंगे और समुद्र में फेंक दिये जाते होंगे, पर हम किस प्रकार

उनको भूल-भालकर दोनों विरोधी पक्षों के उपास्य देवताओं को समान श्रद्धा के साथ ग्रहण किये हुए हैं ! आज इस देश में हिन्दू और मुसलमान इसी प्रकार के लज्जाजनक संघर्ष में व्यापृत हैं । बच्चों और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ी से फेंक देना, मनोहर घरों में आग लगा देना मामूली बातें हो गयी हैं । मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जायँगी । दोनों दलों की अच्छी बातें ले ली जायँगी, बुरी बातें छोड़ दी जायँगी । पुराने इतिहास की ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्तमान इतिहास निराशाजनक नहीं मालूम होता । कभी-कभी निकम्मी आदतों से भी आराम मिलता है ।

तो, यह जो भागवत पुराण का शम्बर असुर है, इसका नाम अनेक तरह से पुराने साहित्य में लिखा मिलता है, शम्बर भी मिलता है, सम्बर भी और शाबर या साबर भी । कोई विदेशी भाषा का शब्द होगा, पंडितों ने नानाभाव से सुधार कर लिख लिया होगा । यह इन्द्रजाल या जादू विद्या का आचार्य माना जाता है अर्थात् 'यातुधान' है । यातु और जादू शब्द एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं । एक भारतवर्ष का है, दूसरा ईरान का । ऐसे अनेक शब्द हैं । ईरान में थोड़ा बदले गये हैं और हम लोग उन्हें विदेशी समझने लगे हैं । 'खुदा' शब्द असल में वैदिक 'स्वधा' शब्द का भाई है । 'नमाज' भी संस्कृत 'नमस्' का सगा सम्बन्धी है । 'यातुधान' को ठीक-ठीक फारसी वेश में सजा दें तो 'जादूदाँ' हो जायगा । कालिका पुराण में शाबर असुर के नाम पर होनेवाले शाबरोत्सव का उल्लेख है, जिसमें अश्लील गाली देना और सुनना जरूरी हुआ करता था । यह उत्सव सावन में मनाया जाता था और वेश्याएँ प्रमुख रूप से उसमें भाग लेती थीं । संसार में सभी देशों में एक दिन साल में ऐसा जरूर मनाया जाता है जिसमें अश्लील गाली-गलोज आवश्यक माना जाता है । अपने यहाँ फागुन-चैत में इस प्रकार का उत्सव मनाया जाता है । इसी को मदनोत्सव कहते

हैं। मैं सोचता हूं कि क्या मदनोत्सव के समान एक और उत्सव इस देश में प्रचलित था जिसके मुख्य उद्योक्ता असुर लोग थे । असुरों के साथ मदन देवता के संघर्ष में क्या इसीलिए दो विभिन्न संस्कृतियों का द्वन्द्व प्रकट होता है ? कौन बताएगा ?

आर्यों का इस देश में सबसे अधिक संघर्ष असुरों से ही करना पड़ा था। दैत्यों, दानवों और राक्षसों से भी उनकी बजी थी, पर असुरों से निपटने में उन्हें बड़ी शक्ति लगानी पड़ी थी। वे थे भी बहुत उन्नत। हर तरह से वे सभ्य थे। उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाये थे, महल बनाये थे, जल-स्थल पर अधिकार जमा लिया था। गन्धर्वों, यक्षों और किन्नरों से आर्यों को कभी विशेष नहीं लड़ना पड़ा। ये जातियां अधिक शान्तिप्रिय थीं । विलासिता की मात्रा इनमें कुछ अधिक थी। काम देवता या कन्दर्प वस्तुतः गन्धर्व ही हैं। केवल उच्चारण बदल गया है । ये लोग आर्यों से मिल गये थे । असुरों ने इनसे बदला लिया था। पर अन्त तक असुर विजयी नहीं हुए ; उनका संघर्ष असफल सिद्ध हुआ।

लेकिन आम्र-मंजरी के साथ बिच्छू का सम्बन्ध अब भी मुझे चक्कर में डाले हुए है । पोथियाँ पढ़ता हूं, उनका सम्मान भी करता हूं, पर लोकप्रवादों को हँसकर उड़ा देने की शक्ति अभी संचय नहीं कर सका हूं । मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादों में मनुष्य-समाज का जीवन्त इतिहास सुरक्षित है । जब कभी लोक-परम्परा के साथ किसी पोथी का विरोध हो जाता है तो मेरे मन में कुछ नवीन रहस्य पाने की आशा उमड़ उठती है। सब समय नयी बात सूझती नहीं, पर हार मैं नहीं मानता। कभी-कभी तो बड़े-बड़े पंडितों की बात में मुझे असंगति दिख जाती है। कहने में हिचकता हूं, नये पंडितों के क्रोध से डरता हूं, पर मन से

यह बात किसी प्रकार नहीं जाती कि पंडित की बात की संगति लोक-परंपरा से ही लग सकती है। यहीं जैसे कुछ छूट रहा हो, कुछ भूल रहा हो। एक उदाहरण दूं।

क्षेमेन्द्र बहुत बड़े सहृदय और बहुश्रुत आचार्य थे। उन्होंने बहुत सी पोथियां लिखी हैं। एक का नाम है 'औचित्य-विचार-चर्चा'। उसमें उन्होंने संज्ञा शब्दों के औचित्य के प्रसंग में कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राजा ने विरहातुर अवस्था में कहा है कि वैसे ही तो दुर्लभ वस्तुओं के लिए मचल पड़नेवाला पंचबाण (कामदेव) मेरे चित्त को छलनी किये डालता है, अब मलय-पवन से आन्दोलित इन आम्र-वृक्षों ने अंकुर दिखा दिए। अब तो बस भगवान् ही मालिक हैं—

इदमसुलभवस्तु प्रार्थनादुर्निवाराः
प्रथममपि मनो मे पंचबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातान्दोलितापांडुपत्रै
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वंकुरेषु ॥

अब सहृदय-शिरोमणि क्षेमेन्द्र कहते हैं कि यह कामदेव को पंचबाण कहना उचित ही हुआ है। कामदेव के पंचबाणों में एक तो यही आम्रमंजरी का अंकुर है। लेकिन मैं बिलकुल उलटा सोच रहा हूं। मैं कहता हूं, पंचबाण कहने से ही तो आम्रकोरक भी कह डाले गए, फिर दुबारा उनकी चर्चा करना कहां संगत है? मैं अगर अच्छा पंडित होता तो क्षेमेन्द्र की भी गलती निकालता और कालिदास का भी अनौचित्य सिद्ध करता, लेकिन खेद के साथ कहता हूं कि मैं 'अच्छा' पंडित नहीं हूं। मेरा मन पूछता है कि क्या कालिदास आम्र-मुकुलों को मदन देवता के पांच बाणों में नहीं गिनते थे? वैसे तो संसार के सभी फूल मदन देवता के तूणीर में आ ही सकते हैं पर कालिदास के युग में लोक-प्रचलित

कोई विश्वास ऐसा अवश्य रहा होगा कि आम पाँच बाणों से अतिरिक्त है। ऐसा न होता तो कालिदास इस श्लोक में 'पंचबाण' शब्द का प्रयोग न करते। सबूत दे सकता हूँ। पर सुनता कौन है? कालिदास ने एक जगह आम्रकोरकों को यह आशीर्वाद दिलाया है कि तुम काम के पाँच बाणों से अभ्यधिक बाण बनो। इस 'अभ्यधिक' शब्द का सीधा अर्थ तो यही मालूम होता है कि पाँच से अधिक छठा बाण बनो। पर पंडित लोग कहते हैं कि इसका सही अर्थ है पाँच में सबसे अधिक तीक्ष्ण। होगा बाबा, कौन झमेले में पड़े। क्या अतीत के अन्धकार में झाँकने से कुछ दिख नहीं सकता? मदन देवता हमारे साहित्य में कब आए और उनके बाणों का भी कोई इतिहास है? और फिर बिच्छू से इसका कोई नाता-रिश्ता भी है क्या?

पुराणों की गवाही पर मान लिया जा सकता है कि असुरों की आखिरी हार अनिरुद्ध और उषा के विवाह के अवसर पर हुई थी। असुरों की ओर से भगवान शंकर का समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी श्रीकृष्ण से गुँथे थे, प्रद्युम्न अर्थात् काम-देवता स्कन्द (देवसेनापति) से। शिवजी के दल में भूत थे, प्रमथ थे, यातुधान थे, वेताल थे, विनायक थे, डाकिनियाँ थीं, प्रेत थे, पिशाच थे, कूष्माण्ड थे, ब्रह्मराक्षस थे—यानी पूरी सेना थी। साँप-बिच्छू भी रहे ही होंगे। और तो और, मलेरिया का बुखार भी था। इस लड़ाई में असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे। देवताओं के दुर्धर्ष सेनापति को कामावतार प्रद्युम्न से हारना पड़ा। मोर समेत बिचारे भाग खड़े हुए। भागवत में यह कथा बड़े विस्तार से कही गयी है। इसके बाद इतिहास में कहीं असुरों ने सिर नहीं उठाया। शिवजी की सेना प्रथम बार पराजित हुई। कैसे और कब प्रद्युम्न ने आम्र-कोरकों का बाण सन्धान किया और बिचारा बिच्छू परास्त हुआ, यह कहानी इतिहास में दबी रह गयी। लेकिन लोग जान गये हैं और बच्चों की दुनिया को भी पता लग ही गया है।

मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ। फूल तो दुनिया में अनेक हैं। आम, लेकिन, फूल की अपेक्षा फल रूप में अधिक विख्यात है। कवि लोगों की बात छोड़िये। वे लोग कभी-कभी बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बोलते ही हैं। अपने भीतर जरा-सी सुड़सुड़ी हुई नहीं कि समझ लेते हैं कि सारी दुनिया इस प्रकार पागल हो गई है। हम लोग भी जानते हैं कि आम की मंजरी मादक होती है लेकिन कवि तो कहता है कि जब दिगन्त सहकार-मंजरी के केसर से मूर्च्छमान हो और मधुपान के लिए व्याकुल बने हुए भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे वसन्त में किसके चित्त में उत्कंठा नहीं लहरा उठती ?

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कंठा ?

अब, अगर किसी सभा में आप वही सवाल पूछ बैठें तो प्रायः सौ फी-सदी भले आदमी ही 'मम' 'मम' कहकर चिल्ला उठेंगे। पर कवि तो अपनी ही-सी कहे जायगा। लेकिन बढ़िया लँगड़ा आम दिखाकर अगर आप पूछें कि इसे पाने की उत्कंठा किसे नहीं है तो सारी सभा चुप रहेगी। सब मन-ही-मन कहेंगे, ऐसा भी पूछना क्या उचित है? आम देखकर किसका जी नहीं ललचाएगा। एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ चीन गये थे। उन्हें आम खाने को नहीं मिला। उन्होंने अपने एक साथी से विनोद में कहा—'देखिये, मैं जितने दिन तक जिऊँ उसका हिसाब कर लेने के बाद उसमें से एक साल कम कर दीजिएगा। क्योंकि जिस साल में आम खाने को नहीं मिला उसको मैं व्यर्थ समझता हूँ।' अब तक यह रिपोर्ट नहीं मिली कि किसी कवि ने आम्र-मंजरी की सुगन्धि न पाने के कारण अपने जीवन के किसी वर्ष को व्यर्थ समझा हो। तो मेरा कहना यह है कि आम के फूलों का वर्णन इतना होना ही नहीं चाहिए। अरविन्द का हो, अशोक का हो, नवमल्लिका का हो, नीलोत्पल का हो। इनमें फल या तो आते ही नहीं या आते भी हैं तो नहीं आने के

बराबर। ये कामदेवता के अस्त्र बन सकते हैं, क्योंकि ये अप्सरा जाति के पुष्प हैं। इनका सौन्दर्य केवल दिखावे का है। कामदेवता के ये दुलारे हो सकते हैं। पर आम को क्यों घसीटते हो बाबा? यह अन्नपूर्णा का प्रसाद है। यह धन्वन्तरि का अमृत-कलश है। यह धरती माता का मधुर दुग्ध है।

मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फल को कोई व्यवहार में ही नहीं लाता था। सम्भवतः यह भी हिमालय के पार्वत्य देश का जंगली वृक्ष था। इसके मनोहर कोरक और दिगन्त को मूच्छित कर देनेवाला आमोद ही लोकचित्त को मोहित करते थे। धीरे धीरे यह फल मैदान में आया। मनुष्य के हाथ रूपी पारस से छूकर यह लोहा भी सोना बन गया है। गंगा की सुवर्णप्रसू मृत्तिका ने इसका कायाकल्प कर दिया है। मैं आश्चर्य से मनुष्य की अद्भुत शक्ति की बात सोचता हूँ। आलू क्या से क्या हो गया, बैंगन कंटकारी से वार्ताकु बन गया। आम भी उसी प्रकार बदला है। न जाने मनुष्य के हाथों से विधाता की सृष्टि में अभी क्या-क्या परिवर्तन होनेवाले हैं। आज जो दुर्भिक्ष और अन्न-संकट कि हाहाकार चित्त को मथ रहा है वह शाश्वत होकर नहीं आया है। मनुष्य उस पर विजयी होगा। कितने अव्यवहार्य पदार्थों को उसने व्यवहार्य बनाया है कितनी खटाई उसके हाथों 'अमृत' बनी है। कौन जाने यह महान् 'गोधूम' लता, (गेहूँ) किसी दिन सचमुच गायों के लगनेवाले मच्छरों को भगाने के लिए धुआँ पैदा करने के काम आती हो? निराश होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य इस विश्व का दुर्जय प्राणी है।

हाँ, तो उसी बहुत पुराने जमाने में गन्धर्व या (जैसा कि इसका एक दूसरा उच्चारण संस्कृत में प्रचलित है) कन्दर्प देवता ने अपने तरकस में इस बाण को सजाया था। कवियों को उसी आदिम काल का संदेश वसन्त में सुनाई देता है। लोग क्या गलत कहा करते हैं कि जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय

कवि। किस भूले युग की कथा वे आज भी गाये जा रहे हैं ? कालिदास जरूर कुछ झिझके थे। शायद उनके जमाने के सहृदय लोग आम को अरविन्द अशोक और नवमल्लिका की पंगत में बैठाने में हिचकते थे। अच्छा करते थे। वात्स्यायन कामशास्त्र में जहाँ आम और माधवीलता के विवाह के विशुद्ध विनोद का उत्सव सुझा गये हैं, वहाँ नवाम्रखादनिका या आम के नये टिकोरों को खाने के उत्सव को भूले नहीं हैं। आम की मंजरी विधाता का वरदान है पर आम का फल मनुष्य की बुद्धि का परिणाम है। मनुष्य प्रकृति को अनुकूल बना लेनेवाला अद्भुत प्राणी है। यह विशाल विश्व आश्चर्यजनक है पर इसको समझने के लिये प्रयत्न करनेवाला और इसे करतलगत करने के लिए जूझनेवाला यह मनुष्य और भी आश्चर्यजनक है। आम्रमंजरी इसी अचरज का संदेश लेकर आयी है। 'उदुमंगल तुसं पसाएमि !'

———

भारतीय साहित्य की एकता

लेे०—नन्ददुलारे वाजपेयी

इस विचारात्मक निबन्ध में भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में पाई जानेवाली प्रवृत्तिगत समानता पर विचार किया गया है। सार रूप में लेखक का मत यह है कि भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य में थोड़ा अन्तर अवश्य है किन्तु उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ एक हैं। परस्पर आदान-प्रदान से यह समानता और दृढ़ होती रही है। यह साहित्यिक एकता राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के अन्धानुकरण से यह साहित्यिक एकता खण्डित हो सकती है और इससे राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ सकती है। अतः हमें भारतीय साहित्य की प्राचीन समृद्ध परम्परा को ध्यान में रखकर नवीन साहित्य का निर्माण करना चाहिए। अन्त में विभिन्न युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए लेखक ने विद्वत्तापूर्ण ढंग से यह सिद्ध किया है कि देश में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में हमारे यहाँ के साहित्यिक अत्यन्त प्राचीन काल से महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करते आ रहे हैं।

भारतीय साहित्य की एकता

जब हम भारतीय साहित्य की एकता की चर्चा करते हैं तब हमारा आशय भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं की साहित्यिक समाश्रयता से होता है। यदि हम आज के हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती अथवा दक्षिणी भाषाओं के साहित्य को देखें तो उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर भी दीखेगा परन्तु सार रूप में प्रवृत्तियाँ प्रायः एक-सी ही पाई जाती हैं। विभिन्न प्रदेशों और जनपदों की सांस्कृतिक विशेषताओं की छाप इन साहित्यों में प्राप्त होती है, जो स्वाभाविक है। साहित्य के विविध रूपों में से किसी भाषा में किसी रूप की विशिष्टता भी मिलती है। उदाहरण के लिए आज के मराठी साहित्य में नाटकों की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक अच्छी है, वैयक्तिक निबन्ध भी उनके यहाँ अधिक परिमाण में लिखे जा रहे हैं। यह उनकी प्रासंगिक विशेषता है। इसी प्रकार अन्य प्रांतीय भाषाएँ भी अपनी अपनी अनन्यपरता रखती हैं। परन्तु इस वैभिन्य के भीतर एक मूलभूत एकता है, जिसे हम भारतीय साहित्य की एकता कह सकते हैं।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि किसी प्रदेश-विशेष के साहित्य में जो विशेषताएँ आज प्रारम्भ हुई हैं, किसी अन्य प्रदेश के साहित्य में वे ही विशेषताएँ दस-बीस या पचीस वर्ष पहले या पीछे आरम्भ हुई थीं या हुई हैं। उदाहरण के लिए बंगाल में रविन्द्रनाथ का काव्य, बंकिमचन्द्र के उपन्यास अथवा द्विजेन्द्र राय के नाटक बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही प्रचलित हो चुके थे। हिंदी में उन्हीं भावनाओं और शैलियों की रचना कुछ काल पश्चात्

आरंभ हुई। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि भारतीय साहित्य में आदान-प्रदान की परंपरा चला करती है, और विभिन्न प्रान्तों के साहित्य अपने सहयोगी प्रान्तों की रचनाओं का आवश्यकतानुसार उपयोग करते रहते हैं। यह तथ्य भी मूलतः भारतीय साहित्य की एकता का ही लद्यक है।

कहा जा सकता है कि आज की स्थिति में भारतीय साहित्य की एकता की ही बात क्यों सोची जाय? क्या हम संसार के दूसरे देशों के साहित्य से संपर्क नहीं रखते? अथवा, क्या आवश्यकतानुसार उनका उपयोग नहीं करते? क्या विश्व भर के साहित्य की एक इकाई नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर दो दृष्टियों से देना होगा। एक तो यह कि भारतीय समाज की एक विशिष्ट सत्ता है, सामाजिक विकास-क्रम में वह एक निश्चित स्थिति पर पहुँचा हुआ है, तथा उसके दार्शनिक और सांस्कृतिक आदर्श वे ही नहीं हैं जो किसी अन्य देश के हैं। इन कारणों से भारतीय साहित्यकार, अन्य देशों की कृतियों का अनुशीलन करते हुए भी, उन्हें उस प्रकार नहीं ग्रहण कर सकते, जिस प्रकार वे अपने देश की विभिन्न साहित्यिक कृतियों को ग्रहण करते हैं।

यहीं एक प्रश्न हमारी साहित्य-परंपरा का भी उठता है। कोई भी देश अपनी साहित्यिक परंपरा से नाता नहीं तोड़ सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता ही है। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परंपरा बहुत पुरानी है। पुरानी ही नहीं, यह अतिशय समृद्ध भी है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं है कि हम अपनी सारी विरासत को छोड़कर दूसरे देशों के साहित्यों का छिछला अनुकरण करने लगें। कहा जा सकता है कि प्रगति की दौड़ में संसार के साथ रहने के लिए यह आवश्यक है कि हम विदेशों के नए से नए साहित्य का परिचय रखें और उसे अपनाएं परन्तु यह बात अंशतः ही सत्य है। यह आवश्यक नहीं कि जो कुछ नया

है वह सबका सब अभीष्ट हो। राष्ट्रीय संस्कृतियों के उत्थान और पतन के अवसर भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। हम आँख मूँदकर नवीनता के नाम पर क्षीयमान संस्कृतियों वाले साहित्य को अपनाकर कोई लाभ नहीं उठा सकते।

यह बात तो हुई प्रगति में पीछे न रहने की। पर हम चाहें भी तो पाश्चात्य देशों की प्रगति को पा नहीं सकते। प्रत्येक देश को अपना विकास अपनी विशिष्ट परम्परा के अनुसार ही करना पड़ता है। ऐसा न होने पर जो आमूल परिवर्तन या क्रांति होगी, वह हमारे देश के लिए श्रेयस्कर नहीं कही जा सकती। प्रगति के दो ही मार्ग हैं, स्वाभाविक विकास का, अथवा क्रान्ति का। इनमें से क्रांति का मार्ग सर्वत्र खतरे वाला हुआ करता है, और क्रान्ति के परिणाम भी प्रायः अनिश्चित होते हैं।

भारतीय साहित्य की एकता पर जोर देने की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज संसार के समक्ष भविष्य की स्थिति बहुत कुछ डाँवा-डोल हो गई है। विघटन की शक्तियाँ इतनी बलवती हो गई हैं कि यह नहीं समझ पड़ता कि नया विकास और नया संगठन किस प्रकार होगा। नई सभ्यता के इस संक्रान्तिकाल में भारतवर्ष अपना संतुलन खो दे, यह उचित न होगा। इसके विपरीत यह अधिक आवश्यक है कि वह अपने साहित्य, अपनी कला और अपने जीवन-दर्शन द्वारा संसार को एक नया आलोक अथवा एक नवीन दिशा-ज्ञान देने की चेष्टा करे। संसार के बड़े-बड़े विचारक भी आज प्रकाश के लिए इधर-उधर टोह लगा रहे हैं। उनमें से कुछ की यह भी धारणा है कि भारतीय साहित्य और भारतीय-जीवन-दर्शन उन्हें नया मार्गनिर्देश दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में नई प्रगति को दौड़ कर अपनाने की अपेक्षा अपने प्राचीन साहित्य वैभव की ओर दृष्टिपात करना अधिक अच्छा होगा।

यदि हम अपने देश के प्राचीन साहित्य को देखें, तो उसमें एक मूलभूत एकता दिखाई देगी। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे कतिपय महान् साहित्यिकों के जन्म-स्थान का पता न होने पर भी समस्त प्रान्तों में उनका प्रचलन है, और उन्हें समान सम्मान प्राप्त है। वाल्मीकि के कार्य-क्षेत्र का निर्देश कर भी दिया जाय, तो भी व्यास का व्यक्तित्व और उनकी इयत्ता अज्ञात ही रहेगी। फिर भी सारा देश उन्हें अपना समझता है। कालिदास की भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। विभिन्न प्रान्तों के पंडित उन्हें अपनी-अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कालिदास वास्तव में किसी प्रांत के कवि नहीं थे, वे समस्त भारत के कवि हैं।

हमारे देश में विविधता में एकता लाने की चेष्टा चिरकाल से की गई है, और इस कार्य में हमारे साहित्यिकों ने विशेष योग दिया है। वैदिक सहित्य के द्वारा सारे देश में एक-सी धार्मिक भावना, एक-सी यज्ञ-पद्धति और एक-सा दार्शनिक आचार प्रतिष्ठित हुआ था। आज भी भारतीय गृहों में वैदिक संस्कार-विधियाँ प्रचलित हैं। रामायण में राम के चरित्र की गरिमा और महत्ता एक आदर्श मानव की ही गरिमा और महत्ता है। केवल राजनीति के ही क्षेत्र में नहीं, मानव-जीवन के सभी विशिष्ट क्षेत्रों में आज भी भारतीय नागरिक राम के चरित्र को आदर्श मानते हैं और उनसे प्रभावित होते हैं। दक्षिण में वाल्मीकि-रामायण का प्रचार उत्तर भारत से कम नहीं है, जो इस बात का द्योतक है कि भारत की सांस्कृतिक एकता अत्यन्त बलवती और परिपुष्ट है। राम इसलिए महान् नहीं हैं कि उनका जन्म अयोध्या में हुआ था और रावण इसलिए कदर्य नहीं है कि लंका का राजा था। इन ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्यों का हमारी संस्कृति अतिक्रमण कर गई है और तब जिन मूल्यों पर प्रतिष्ठित हुई है वे बहुत अधिक स्थायी मूल्य हैं।

कालिदास और भवभूति भारतीय वैभव-युग के प्रतिनिधि कवि हैं। एक

उस वैभव को प्रारम्भिक स्थिति की सम्पूर्ण आशावादिता और उत्कर्ष से समन्वित है, तथा दूसरा उस वैभव के परिपाक की चरमावस्था का प्रतिनिधि है। दोनों की कृतियों में ये दोनों पहलू अत्यधिक स्पष्ट हैं। भवभूति की भाषा में संस्कृत की चरम प्रगल्भता सन्निहित है। कालिदास और भवभूति का सम्पूर्ण प्रदेय भारतीय वस्तु है, वह किसी प्रदेश का उत्तराधिकार नहीं।

जिस प्रकार ग्रीक-रोमन सभ्यता के चरम उत्कर्ष के पश्चात् वर्जिल का महाकाव्य लिखा गया, उसी प्रकार भारतीय सभ्यता के चरम बिन्दु पर पहुँचने के पश्चात् माघ और भारवि जैसे कवियों की कृतियाँ प्रकाश में आईं। शैली का सौन्दर्य इनमें चरमकोटि का मिलेगा, किन्तु भावोत्कर्ष बहुत कुछ क्षीण होने लगा है। भाषा का सर्वोत्तम परिष्कार इन कृतियों में परिलक्षित होता है। एक-एक श्लोक के पाँच-पाँच और सात-सात अर्थ जिस निपुणता से निकाले जाते हैं, वे भाषा की चरम सिद्धि के परिणाम हैं। भट्टिकाव्य को साहित्य का ग्रन्थ भी कहा जाता है और उसे व्याकरण का ग्रन्थ भी कहते हैं। कितने महान अधिकार को लेकर उसकी रचना की गयी थी।

महाकाव्यों के इस निर्माण-काल के पश्चात् नया प्रवर्तन जयदेव द्वारा किया गया, जिन्होंने मधुर प्रगीतों की शैली अपनाकर भारतीय साहित्य को अपूर्व माधुर्य से भर दिया। उन्हीं के पश्चात् भारतीय लोक भाषायें अपने साहित्य की समृद्धि करने में तत्पर हुईं और एक साथ ही बंगाल में चंडीदास, मिथिला में विद्यापति, उत्तर भारत में कबीर, तुलसी और सूर, महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, गुजरात में नरसी मेहता और राजस्थान में मीराबाई के गेय पदों की महान परम्परा चल निकली। दक्षिणी भाषाओं में भी आलवार संतों ने भक्ति-काव्य की रचनायें प्रस्तुत कीं। सारा देश इन भक्तों और संतों की सहज भावमयी वाणी से आप्यायित हो उठा। तुलना के लिए कुछ लोग किसी कवि को किसी से न्यून और किसी से श्रेष्ठ ठहरा सकते हैं, किन्तु वे तुलनायें

अधिकतर साहित्यिक ही होंगी। प्रतिभा का उत्कर्ष नापना साहित्यिकों का काम है। जहां तक सांस्कृतिक प्रेरणा का प्रश्न है, ये सभी कवि एक ही प्रेरणा से परिचालित हुए हैं। उसे हम एक शब्द में धार्मिक प्रेरणा कह सकते हैं। लोकभाषाओं का यह साहित्य पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य की तुलना में क्या और कैसा है, यह प्रश्न भी हमारे लिए अधिक महत्व का नहीं। जिन राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों ने इस साहित्य को जन्म दिया और इसकी रूपरेखा निर्धारित की, उसका विवेचन भी हमारे लिए यहां आवश्यक नहीं। हम तो केवल यह देखते हैं कि चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक समस्त देश में एक ही साहित्यिक ध्वनि गूंज रही थी, और वह थी एक लोकातिक्रान्त शक्ति में चरम विश्वास रखने वाली सशक्त और बलवती ध्वनि।

उन्नति और विकास, अथवा प्रौढ़ता और परिपुष्टता के युगों में ही नहीं, ह्रास और अवरोह के युगों में भी भारतीय साहित्य अपनी एकता की साक्षी देता है। जिसे हम हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहते हैं, जिसकी प्रेरणा मुसलमानी साम्राज्य और फारसी साहित्य की नई परिस्थितियों से उत्पन्न हुई थी, वह भी किसी प्रदेश तक सीमित नहीं था। दरबारी कवियों का काव्य भारत के विभिन्न प्रान्तों में तैयार हुआ। शृंगार-कविता और नायिका-भेद की रचनाएं यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रस्तुत की गईं। यही नहीं, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रों में भी बहुत कुछ समान-सी प्रगति सारे देश में होती रही। आज जिसे हम उत्तर का संगीत और दक्षिण का संगीत कहकर दो खण्डों में विभाजित करते हैं, उसमें भी समानता के बहुत से उपकरण हैं। शैलियां और कलमें बदली हैं। इतने बड़े देश में उनका बदलना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था परन्तु मौलिक रूप में एक समानता समस्त देश भर में विद्यमान रही है। हिन्दी का कवि भूषण दक्षिण के सम्राट् शिवाजी की प्रशस्ति गाने में तत्पर हुआ। इसी प्रकार गुजरात, महाराष्ट्र और बंगाल के कवि व्रजभाषा में कृष्णलीलाओं

का गान कर रहे थे। प्रादेशिक भिन्नता का भाव इस देश की प्रकृति में नहीं रहा।

अंगरेजों के आने के पश्चात् हमारे देश पर जो नए प्रभाव पड़े, और उनकी जो प्रतिक्रिया साहित्यिक निर्माण में देखी गई, वह भी विलक्षण रूप से समान थी। कुछ समय तक विदेशी सभ्यता की चकाचौंध, फिर एक नया प्रतवर्तन या पुनरुत्थान, फिर राष्ट्रीयता का प्रशस्तिगान और अंततः स्वच्छन्द काव्य की प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी प्रान्तों में एक-सी पाई जाती हैं। यह बात दूसरी है कि किसी प्रान्त में प्रभाव कुछ पहले आया और किसी अन्य प्रान्त में कुछ समय पश्चात् आया। दूसरा अन्तर प्रतिभा के वैशिष्ट्य का भी है। किसी प्रान्त में कुछ अधिक उत्कृष्ट प्रतिभाएँ दिखाई दीं, किसी अन्य प्रान्त में कुछ कम। तीसरा अन्तर प्रादेशिक या जनपदीय संस्कृतियों का है। किसी प्रान्त में किसी विशेष काव्य-रूप की ओर अधिक प्रवृत्ति रही, किसी दूसरे प्रान्त में किसी अन्य काव्यरूप की ओर। विभिन्न प्रदेशों की जलवायु और तज्जन्य लोकरुचि के अनुसार भिन्नताएँ भी आती रही हैं परन्तु वे अतिशय स्वाभाविक हैं और उनसे साहित्य की मूल विकासधारा और भावभूमि में कोई बड़ा अन्तर नहीं आया। आज हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक और विद्वान् इस बात से थोड़े-बहुत शंकित हो रहे हैं कि हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से उनकी प्रादेशिक भाषा या साहित्य को क्षति पहुंचेगी, परन्तु भारतीय इतिहास इस शंका को निर्मूल सिद्ध करता है। भारतीय जनता अपने ऐतिहासिक जीवन में बराबर देखती आई है कि साहित्य देश को विभाजित करने का साधन कभी नहीं रहा, वह सदैव उसे संयोजित और संगठित करने का माध्यम रहा है। काव्य-विविधता में अन्तर्निहित एकता इस देश की संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। हमारा प्राचीन

साहित्यिक विकास इसका निर्देशक है। भविष्य में भी यह एकता प्रतिष्ठित होगी और स्थिर होकर रहेगी, इसमें सन्देह करने के लिए अधिक स्थान नहीं है। इतिहास तो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि जब कभी हमारे देश में भाषा और साहित्य की यह संयोजक शक्ति कम हुई है, और पृथक्ता तथा विदेशी प्रभावों का प्राबल्य हुआ है, तब-तब सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में संकट आया है और हमें राष्ट्रीय दुर्दिन देखने पड़े हैं। भारतीय साहित्य की एकता का आदर्श सदैव हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए अक्षय प्रेरणा-स्रोत रहा है और रहना चाहिए।

———

सरसों के समुद्र में

लेखक—रामवृक्ष बेनीपुर

प्रस्तुत निबन्ध भावात्मक दृश्यांकन का उत्कृष्ट उदाहरण है। वर्णित दृश्य का आद्यंत रागात्मक और भावनापूर्ण चित्रण किया गया है। वर्णन-पद्धति काव्यात्मक और भाषा आलंकारिक है। आत्म-व्यंजकता और अनुभूतिप्रवणता के अतिरिक्त दृश्य की एकता के कारण इस चित्रण में गीत काव्यों जैसी भावान्विति और प्रभविष्णुता दिखलाई पड़ती है। पदों का विशिष्ट क्रम-विन्यास, पदों और वाक्यों की आवृत्ति और क्रियापदों का लोप आदि काव्य-कौशलों के प्रयोग के द्वारा काव्य-जैसा लयात्मक प्रभाव (Rythmical effect) उत्पन्न करने में भी लेखक सफल हुआ है।

सरसों के समुद्र में

बस, एक दृश्य और। बात को बढ़ाना ठीक नहीं, और मधुरेण समापयेत्।

बसन्त कश्मीर का। मेरा बदनसीबी समझिए, मैंने वहां का वसन्त-वैभव नहीं देखा। हां, किताबों में पढ़ा है, मित्रों से सुना है, बहुरंगी तस्वीरें देखी हैं। उन झीलों में कमलों का वह वन, जिस पर शिकारे तैर रहे। वर्फ से लदी चोटियों पर प्रायः सूर्य की वे स्वर्णरश्मियां। लेकिन, मुझे सबसे विशेष रुचिकर लगा, घरों के ऊपर आप से आप उग आये पौधों का वह रंग-बिरंगा संसार, जिसे मानव-हाथ छू नहीं पाते, मानव-पद अपवित्र नहीं कर सकते।

खैर, जाने दीजिए उन बातों को। मैं इस भरे वसन्त में आपको एक छोटी-सी 'गँवई' में ले जाना चाहता हूं।

जन्मभूमि प्यारी होती है—बेनीपुर भी मुझे प्यारा है। वहां क्या है—कह नहीं सकता। किन्तु, उस मिट्टी में कोई आकर्षण जरूर है, जो मेरे ऐसे बहशी को बार-बार अपनी ओर खींचता है, खींच लेता है। लेकिन, मेरा दावा है, बेनीपुर में और कुछ न हो, चंद दिन ऐसे हैं कि जिनके बल पर वह आपको भी बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

वे दिन हैं—जब सरसों फूली हुई होती है। एक-दो खेतों में छिटफुट सरसों को फूला हुआ देखकर ही हम फूले नहीं समाते। किन्तु, वहां तो सरसों का समुद्र लहराया करता है।

बागमती की कृपा से इधर नाले, पोखर, और भरकर जो पूरी की पूरी सपाट-चौरस बन गयी है, उस जमीन पर आप माघ में पहुँचिए। ज्यों ही बेदौल से आप बाहर होंगे, आप समझिए, सरसों के समुद्र के पुल पर पहुंच गये। जरा, पूरब की ओर नजर कीजिए, पीला, पीला, पीला— जहाँ तक आपकी नजर पहुंच सकती है, पीला ही पीला! क्या पीत समुद्र का एक टुकड़ा, किसी जादूगर ने यहाँ ला पटका है। किन्तु, कहाँ पीत सागर, जहाँ का पानी खारा, मुर्दा, यहाँ तो जीवन तरंग ले रहा है, सुगन्ध सपक्ष उड़ रही है। ऊपर, ऊँचे, वह संपा बेना अपने हरे परों को आसमान की नीलिमा में सोने की चेष्टा करती हुई, सीटी पर सीटी बजा रही है। नीचे फुदगुद्दियाँ फुदक रहीं, बगेरियाँ चहक रहीं और बीच में तितलियों की चमचम और भौंरों की भनभन आपके प्राण-मन को व्याकुल बना रही। कहाँ वह पीत-सागर, कहाँ वह सरसों का समुद्र! कोई तुलना नहीं, कोई उपमा नहीं।

आइए, इस समुद्र में धँसिए। डूबने का डर नहीं, जान का खतरा नहीं। इसमें गोते लगाइए, प्राण को जुड़ाइए। बीच की पगडण्डी से आप बढ़ चलिए। सरसों की पंखुड़ियाँ कभी आपके विशाल वक्ष पर गिर-गिर पड़ती हैं, कभी उचक-उचककर आपके रसीले अधरों को चूमने की कोशिशें करती हैं। आप कितने अरसिक हैं। प्रेम का प्रतिदान देना आपने जाना नहीं? लीजिए, जिसका आपने अपमान किया, वही अब आपके सर पर है। आपके पास आइना होता, तो आप देखते, आपके सर के मुलायम बाल इस समय सरसों की पतली-पतली पंखुड़ियों का घोंसला बन चुके हैं।

कहीं इस पीली-पीली दुनिया से आपका मन ऊब न जाय, इसलिए बीच-बीच में भोजन में चटनी की तरह, वह देखिए, यह क्या है? यह, यह मटर का बाजार है—हरी चादर पर कारचोबी का काम। यह केराव का खेत— यही शोभा, लेकिन बैगनी की बहार। यह गेहूं —

गेहूं—शुभ्र हरीतिमा, बालियों में किसका मन न उलझे। जमीन से सटो, सिमटो ताक रही हैं चने की क्यारियां, सौन्दर्य है, सलोनापन भी, आप आकृष्ट क्यों न होंगे! लेकिन, वे कौन आंख तरेर रही हैं, गुस्से म कांप रही हैं? उनकी नीली-नीली आंखें मानो फटो पड़ती हैं। छोटी, पतली तीसी-कुमारिकायें—इतना नाज-नखरा ठीक नहीं। जरा लोक-लाज भी देखो। तुम्हारी इस शोखी पर वह एकाकी अरहर शरमायी जा रही है—पीली-पीली हुई जा रही है।

सौंदर्य और संगीत का अन्योन्याश्रय संबंध है ही। पूर्वा हवा का सननन्, पक्षियों का कलरव, भौंरों की भनभन तो थी ही, मानव-मन भी अपने को जब्त न कर सका। उसके कण्ठ फूट चले। किसी एक ने होली की एक कड़ी गा दी, बस, समूचे सरेह में संगीत की ध्वनि-प्रतिध्वनि जग उठी। संगीत भी संक्रामक है—वह बूढ़े बाबा का पोपला मुंह भी ताना-रीरी का शौक पूरा करने लगा।

बीच में यह किसकी चूड़ियां खनक उठीं? किसका झुमका झमझमा उठा! किसके कड़े-छड़े एक अजीब स्वर-लहरी की सृष्टि कर उठे? यह कौन है? आपने उसे कभी शहरों में देखा है? अपने काले बालों में, अपने गोरे चेहरे को छिपाती, अपने वासन्ती वस्त्रों में अपने चंपई अंगों को चुराती। वह आपको देखते ही जंगली हिरन की तरह चौंकी, भागी और इस सरसों के समुद्र में गोते लेकर छिप गयी। छिप गयी—अब आप सिर्फ ऊपर की तरंगों को गिनते रहिए।

विद्यापति का—'दछिन पवण बहु धीरे'—उनकी पुस्तक या उनके प्रशंसकों के कण्ठों तक ही रह गया, लेकिन 'री पुरवैया धीर बहो,—लोकगीत बनकर जो करोड़ों कण्ठों को आप्यायित करता है, क्यों? इस सरसों के समुद्र में ही इसका उत्तर पाइयेगा। पुरवैया बही नहीं

कि शान्त-पीत समुद्र में तरंग-पर-तरंग उठने लगी। पहले एक सिहरन-सी, फिर, होते-होते, ढेहू तक। बड़े-बड़े ढेहू एक-पर-एक। सरसों की पतली सुकुमार पंखड़ियाँ पुरवैया के झोंके पर उड़ रहीं। हवा के पराग के कण। इस पराग और पंखड़ियों के चलते हवा भी एक अजीब पीलेपन में डूबी। इसके स्पर्श से, लहर से, झकोर से मन भी क्यों न पीले रंग में—बासन्ती मादकता से रँग जाय।

———

पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा

लेखक—सुमित्रानन्दन पन्त

पन्तजी की प्रारम्भ से लेकर अब तक की काव्य-कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि उनकी काव्य-चेतना का निरन्तर विकास होता रहा है। उनकी विकसनशील काव्य-चेतना ने किन स्रोतों से सबसे अधिक प्रभाव ग्रहण किया है, यही इस निबन्ध में कवि का वक्तव्य है। यह आत्म-विवेचन कवि के प्रकृति-दर्शन से लेकर आत्मदर्शन तक के विकास-क्रम को ठीक-ठीक समझने का सर्वोत्तम साधन है। साहित्यिक मूल्यांकन में इस प्रकार के आत्म-विवेचन से बहुत अधिक सहायता मिलती है। पन्तजी के प्रारंभिक कवि को प्रकृति-सौन्दर्य ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। उनके छायावादी कवि को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाले ग्रन्थ हैं बाइबिल और उपनिषद। इसके बाद उन्होंने मार्क्सवाद से प्रभावित होकर युगवाणी और ग्राम्या की रचना की। अन्त में कवि ने व्यापक मानवसंस्कृति पर आधारित नवीन समन्वयवादी जीवन-दर्शन में अपनी आस्था व्यक्त की है जिसकी अभिव्यक्ति उनकी नवीनतम काव्य-कृतियों में हुई है।

पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा

मेरे विचार में प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह पुस्तकों से ही सीखे। पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक साधन हैं जिनसे मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर सकता है और अपने भीतर सुरुचि, शील तथा उच्चतम संस्कारों को संचित कर सकता है। पुस्तकों की शिक्षा एक प्रकार से एकांगी शिक्षा है। हम प्रायः लोगों को कहते सुनते हैं कि अभी तुमने पढ़ा ही है, गुना नहीं। इससे यही ध्वनि निकलती है कि पुस्तकों की कोरी पढ़ाई को जीवन और स्वभाव का अंग बनाने के लिये और भी अनेक प्रकार की शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनमें सबसे प्रमुख स्थान शायद अनुभूति का है। वैसे भी सच्ची शिक्षा के लिये, जिससे कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सके, पुस्तकों के अध्ययन-मनन के साथ ही उपयुक्त वातावरण तथा संस्कृत व्यक्तियों का सहवास, जिसे सत्संग कहते हैं, अत्यन्त आवश्यक है, जिनके बिना हम कोरे कागजी उपदेशों अथवा नैतिक सत्यों को अपने मन तथा स्वभाव का अंग नहीं बना सकते। महान् व्यक्तियों के उन्नत विचारों तथा महान् ग्रंथों के उत्तम आदर्शों को आत्मसात् कर उन्हें जीवन में परिणत करने के लिये यह भी नितान्त आवश्यक है कि उन्हें अपने कार्यों एवं आचरणों में अभिव्यक्त करने के लिये हमें मनोनुकूल व्यापक सामाजिक क्षेत्र मिले। जिस देश या समाज में बाह्य परिस्थितियाँ, व्यक्तिगत रागद्वेष तथा छोटे-मोटे स्वार्थों के कारण, मनुष्य की उन्नत आंतरिक प्रेरणाओं का विरोध करती हैं वहाँ भी शिक्षा का परिपाक अथवा व्यक्तित्व का यथोचित

विकास नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितियाँ केवल नाटे, बौने, ठिगने, कुबड़ व्यक्तियों को जन्म देकर रह जाती हैं।

स्वभाव से ही अत्यन्त भाव-प्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तकों की ओर अधिक नहीं रही। मैंने व्यक्तियों के जीवन से, परस्पर के जन-समागम से तथा महान् पुरुषों के दर्शन एवं उनके मानसिक सत्संग से कहीं अधिक सीखा है, जिसे मैं सहज सीखना या सहज शिक्षा कहता हूँ; इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन मुखर सहवास से सीखा है। भावुक तथा संवेदनशील होने के कारण मेरे भीतर स्वभाव का अंश अत्यधिक रहा है। स्वभाव का अंग जिसमें अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच, सबल तथा दुर्बल सभी कुछ रहा है और अत्यधिक रहा है। छुटपन से ही मैं सदैव अपने स्वभाव से उलझता रहा हूँ। अपने स्वभाव से संघर्ष करते रहने के कारण ही मैं थोड़ा बहुत सीख सका हूँ, अपनी दुर्बलताओं तथा अपनी एकांत आकांक्षाओं का ध्यान मेरे भीतर बराबर बना रहा है। अपने को भूल कर, आत्मविस्मृत होकर, अपने चिन्तन अथवा चिन्ता के घेरे से बाहर निकल कर शायद ही मैं कभी आत्मविभोर भाव से संसार के साथ रह सका हूं। अगर किसी ने मुझे इस भावना से मुक्ति दी है तो वह प्रकृति ने। प्रकृति के रूप को देखकर मैं अनेकानेक बार आत्मविस्मृत हो चुका हूँ। जैसे माँ बच्चे को अपनाती है, वैसे ही प्रकृति ने मुझे अपनाया है। उसने मेरे चंचल मन की आकुल व्याकुलता को, जिसे मैं किसी पर प्रकट नहीं कर सका हूँ और न स्वयं ही समझ सका हूँ—अपने में ले लिया है। प्रकृति के मुख का निरीक्षण कर मेरे भीतर अनेक गहरी अनुभूतियाँ उतरी हैं। संसार के छोटे-मोटे संघर्षों तथा जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों के परे उसने एक व्यापक पुस्तक की तरह खुलकर मेरे भीतर अनेक सहानुभूतियाँ, सांत्वनाएँ, स्नेह-ममत्व की भावनाएं तथा अवाक् अलौकिक, अपने को भुला देने वाली, शक्तियों का स्पर्श अंकित किया है।

प्रकृति से मेरा क्या अभिप्राय है शायद इसे मैं न समझा सकूंगा। अगर किसी वस्तु को बिना सोचे-विचारे, केवल उसका मुख देखकर, मेरे मन ने स्वीकार किया है तो वह प्रकृति है। वह शायद मेरा ही एक अंग है, सबसे स्निग्ध, उज्ज्वल और व्यापक अंग, जिसके प्रशांत अन्तस्तल में सब प्रकार के सद्-असद्, उच्च-क्षुद्र तथा सुख-दुख अपने-आप जैसे घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं। उसकी एकांत क्रोड़ में बैठकर मैं अपने को सबसे बड़ा अनुभव करता हूँ, जो अनुभूति मुझे और किसी के सम्मुख नहीं हुई है। छुटपने में दूसरों ने मुझे सदैव अपनी विकृतियों, संकीर्णताओं, कठोरताओं, निर्दयताओं तथा ढिठाइयों से दबाने का प्रयत्न किया है। अशिष्टता, रुखाई तथा असभ्यता का सामना करने में अपने को अक्षम पाने के कारण मैं सदैव, दूसरों की अयोग्यता के सामने भी संकोचवश सिकुड़कर रहा हूँ। किन्तु प्रकृति ने अपने आँगन में मुझे सदैव खुलकर खेलने को उकसाया है। उसने मेरे अनेक मानसिक घावों को अपने प्रेम-स्पर्श से भर दिया है, मेरी अनेक दुर्बलताओं को अपनी प्रेरणाओं के प्रकाश से धोकर मानवीय बना दिया है। इस प्रकार जो सर्वप्रथम पुस्तक मुझे देखने को मिली, वह प्रकृति ही है।

फूल, चाँद, तारे, इन्द्रधनुष और जगमगाते हुए ओसों से भरी इस रहस्यमयी प्रकृति के बाद—जिसका आनन्द-सन्देश मुझे सायं-प्रातः पक्षी देते हैं—जिस दूसरे महान् ग्रन्थ ने अपनी पवित्र मधुर छाप मेरे हृदय में अंकित की है, वह है बाइबिल का न्यू टेस्टामेंट। बाइबिल भी उदार-मधुर प्रकृति की तरह अनजाने ही अपने आप मेरे भीतर के जीवन का एक अमूल्य अंग बन गई। चिन्तन और बौद्धिक व्यायाम की कठोरता से अछूती, अंतरतम की सहज मर्म-पूर्ण पुकार की तरह, बाइबिल जैसे भागवत हृदय की, प्रेम-करुणा से भरी, पवित्र भावना की ज्योति-प्रेरित वाणी है। वह आत्मा का शुष्क ज्ञान नहीं, आत्मा की भाव-विगलित कविता की कविता है। क्राइष्ट के अश्रुधौत, महत्

त्याग-पूर्ण, मूर्तिमान प्रेम के व्यक्तित्व ने मेरे हृदय को मुग्ध कर दिया। दर्शन और मनोविज्ञान के नीरस तथ्यों से ऊबकर मेरा हृदय चुपचाप, शिशु के अखंड पवित्र विश्वास की तरह सरल मधुर, बाइबिल की दिव्य लय में बंध गया। 'लूक एट द लाइन्स आव द फिल्ड, हाऊ दे ग्रो' कहनेवाले महान् अन्तर्द्रष्टा ने मेरे भीतर जीवन के स्वतः स्फूर्त सूक्ष्म अन्तःसौन्दर्य का रहस्य खोल दिया। रेसिस्ट नाट इविल ने जैसे ईश्वरीय सत्य की अवश्यम्भावी अन्तिम विजय का सन्देश मेरे मन में अंकित कर दिया। ब्लेस्ड आर दे देट मार्डन, फार दे शैल बी कमफोर्टेड, ब्लेस्ड आर द मीक, फार दे शैल इनहेरिट द अर्थ, सो सूक्तियों ने ईश्वर की अक्षय करुणा और प्रेम के न्याय के प्रति मेरे हृदय को अडिग विश्वास से भर दिया। इस क्षणभगुर, राग-द्वेष और कलह-कोलाहल के अंधकार के परदे को चीरकर सबसे पहले बाइबिल ने ही मेरे हृदय को ईश्वर की महिमा, स्वर्ग के राज्य तथा मानवता के भविष्य की ओर आकृष्ट किया। येट आर द सैल्ट आफ द अर्थ, ये आर द लाइट आफ द वर्ल्ड। आदि वाक्यों ने मेरे मन की वीणा में एक अक्षय आशावादिता का स्वर जगा दिया। सब मिलाकर बाइबिल के अध्ययन ने संसार का और 'परिवर्तन' के विषाद से भरे हुए मेरे अंतःकरण को एक अद्भुत नवीन विश्वास का स्वास्थ्य तथा अमरत्व प्रदान किया। अब भी बाइबिल को पढ़ने से उसी प्रकार भगवत्-प्रेम के अश्रुओं से घुला, आत्मत्याग से पवित्र, जीवन के सात्त्विक सौन्दर्य का जगत् अपने मौन मधुर रूपरंगों के वैभव में मेरी मन की आँखों के सम्मुख प्रस्फुटित हो उठता है, जिसके चारों ओर एक अखंडनीय शान्ति का स्निग्ध वातावरण व्याप्त रहता है, जो दिव्य औषधि की तरह मन की समस्त श्रांति को मिटाकर उसे नवीन शक्ति प्रदान करता है।

बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदों के अध्ययन ने भी मेरे हृदय में प्रेरणाओं के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है। 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' का अनन्त प्रकाशपूर्ण वैभव मेरे अन्तर में उपनिषदों ने

ही बरसाया है। उपनिषदों का अध्ययन मेरे लिये शाश्वत प्रकाश के असीम सिन्धु में अवगाहन के समान रहा है। वे जैसे अनिर्वचनीय अलौकिक अनुभूतियों के वातायन हैं, जिनसे हृदय को विश्व क्षितिज के उस पार अमरत्व की अपूर्व झाँकियाँ मिलती हैं। अपने सत्यद्रष्टा ऋषियों के साथ चेतना के उच्चतम सोपानों में विचरण करने से अन्तःकरण एक अवर्णनीय आह्लाद से ओतप्रोत हो गया। मन का कलुश और जीवन की सीमाएँ जैसे अमृत के झरनों में स्नान करने एक बार ही धुल कर स्वच्छ एवं निर्मल हो गई। उपनिषदो का मनन करने से मन के बाह्य आधार नष्ट हो जाते हैं। उसकी सीमित कुण्ठित तर्क-भावना को धक्का लगता है और बुद्धि के कपाट जैसे ऊपर को खुल जाते हैं। वह एक ऐसे अतीन्द्रिय केन्द्र में स्थित हो जाता है जहाँ से वह साक्षी की तरह तटस्थ भाव से विश्वजीवन के व्यापारों का निरीक्षण करने लगता है। उपनिषदों में भी ईशोपनिषद् ने नाविक के तीर की तरह मेरे मन के अंधकार को भेदने में सबसे अधिक सहायता दी है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' के मनन मात्र से ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और हृदय में जिज्ञासा जग उठती है कि किस प्रकार इस क्षणभंगुर संसार के दर्पण में उस शाश्वत के मुख का बिम्ब देखा जा सकता है। ईशोपनिषद् के विद्या और अविद्या के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने भी मेरे मन को अत्यन्त बल तथा शक्ति प्रदान की।

उपनिषदों के अध्ययन के बाद जब मैंने टाल्सटाय की 'माई रेलीजन' नामक पुस्तक पढ़ी तो मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मुझे लगा कि जैसे आकाश से गिर कर खाई में पड़ गया हूं। टाल्सटाय की विचारधारा पाप-भावना से ऐसी कुण्ठित तथा पीड़ित लगी कि उसके सम्पर्क में आकर मेरे भीतर गहरा विषाद जमा हो गया। उपनिषदों के उज्ज्वल, उन्मुक्त, अपापविद्ध उर्ध्वाकाश के वातावरण में सांस लेने

वाले मन की गति जैसे श्रान्ति-क्लानि से शिथिल होकर निर्जीव पड़ने लगी। इससे उपनिषदों के ब्रह्मवाद का महत्व मेरे मन में और भी बढ़ गया। इस देश-काल-नाम-रूप के सापेक्ष जगत् के परे जो सत्य का परात्पर शिखर है, जो द्वन्दों में विभक्त इस जागतिक चेतना की सीमाओं से ऊपर और बुद्धि के अतीत है वही परम भावनीय सत्य का आधार हो सकता है। देश, काल, परिस्थितियों के अनुरूप बदलती हुई सापेक्ष नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओं की स्थापना का रहस्य भी वही है।

किन्तु 'न तत्र चक्षुर्गति न वाग् गच्छति नो मनो' वाले उपनिषदों के सत्य में मैं अधिक समय तक केन्द्रित नहीं रह सका। मेरा स्वभाव फिर मुझसे उलझने लगा और मेरे मन में बार-बार यह जिज्ञासा उठने लगी कि यह सापेक्ष सत्य, जिसे माया कहते हैं, जो देश-काल के अनुरूप नित्य परिवर्तित होता रहता है, वह किन नियमों के आधीन है और उसे कौन-सी शक्तियाँ संचालित करती रहती हैं। मेरी इस जिज्ञासा की पूर्ति अनेक अंशों तक मार्क्सवाद कर सका। हमारी सामाजिक मान्यताओं का जगत क्यों और कैसे बदलता है और उसमें युगीन समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है इसका संतोषप्रद निरूपण, इसमें संदेह नहीं, केवल मार्क्सवाद ही यथेष्ट रूप से करा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तर्क-प्रणाली हमारा परिचय उन नियमों से कराती है जिनके बल पर मानवीय सत्य का ढाँचा संगठित होता है। वह मानव-जीवन सिन्धु के उद्वेलन-आलोड़न का, सामाजिक उत्थान-पतन तथा सभ्यता के प्रगति-विकास का इतिहास है। मानव जीवन के ऐसे समतल संचरण के वृत्त को मैंने अपनी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में वाणी देने का प्रयत्न किया है।

किन्तु पुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त मानव-जीवन के अध्ययन तथा मानव-स्वभाव के संघर्ष की अनुभूतियों से मैं जिन परिणामों में पहुँचा हूँ उनसे मुझे प्रतीत होता है कि मानव-विकास की वर्तमान स्थिति में हमें

मानव-जीवन के सत्य को उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक स्वरूपों में पहचानने के बदले उसे विश्वव्यापक सांस्कृतिक स्वरूप में पहचानने तथा अभिव्यक्ति देनें की आवश्यकता है, जिससे उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के अंतर्विरोध नवीन जीवन-सौंदर्य की भावना में समन्वित हो सकें। इस सांस्कृतिक सौंदर्य की भावना ही में मैं नवीन मनुष्यत्व एवं मानवता की भावना को अंतर्निहित पाता हूँ, जो धर्म और काम के बीच, व्यक्ति और विश्व के बीच, स्वभाव और नैतिक कर्तव्य के बीच, ऐहिक और पारलौकिक के बीच एक सुनहले पुल की तरह झूलती हुई मुझे दिखाई देती है, जिसमें मानव-जाति की प्रगति तथा विकास अपने अंतर-संगीत की लय में बँधे हुए युग-युग तक अविराम चरण धरते एवं आगे बढ़ते हुए जीवन की असीमता तथा शाश्वतता का प्रमाण देकर ईश्वर की आनन्द-लीला को सार्थक करते जायेंगे। एवमस्तु।

———

और चाहिए किरण जगत को और चाहिए चिनगारी

लेखक रामधारीसिंह 'दिनकर'

प्रस्तुत-रचना को सूक्ति-प्रधान गद्य-गीत की संज्ञा दी जा सकती है। गद्य-गीतों की दिशा में इसे नया प्रयोग मानना चाहिये। इसकी कुछ सूक्तियाँ अपने आप में पूर्ण और अर्थगर्भी हैं, साथ ही सभी मिलकर समन्वित रूप से भी एक ही कथ्य का गहरा और हृदय-स्पर्शी रागात्मक प्रभाव (इमोशनल इफेक्ट) उत्पन्न करती हैं। इससे इस रचना की प्रभावोत्पादकता और बढ़ गई है। पद्यात्मक को छोड़कर काव्य के अन्य सभी गुणों से युक्त इस रचना में अभिव्यञ्जना की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली को अपनाया गया है। अपनी काव्य-चेतना के अनुरूप दिनकरजी ने इसमें भी निराशा और कुण्ठा-ग्रस्त मानव के लिये प्रगति और जागरण का संदेश दिया है।

और चाहिए किरण जगत को
और चाहिए चिनगारी

प्रकाश का निर्माण कर पन्थी ! क्योंकि इससे तुझे तेरी राह मिलेगी और इसके सहारे दूसरे लोग भी अपना मार्ग निर्धारित करेंगे।

पिता अपनी प्रगति के लिए प्रकाश ढूँढ़ता है, किन्तु वह उसे अपनी सन्तान को भी दे जाता है।

प्रकाश पर अधिकार व्यष्टि का नहीं, समष्टि का होता है। रोशनी सारी इन्सानियत की पूँजी है और प्रकाश निखिल संसार की निधि।

भगीरथ एक होता है, किन्तु, उसकी लाई हुई गंगा अनन्त मानवों का उद्धार करती है।

मनुष्य एक है : मनुष्यत्व अविभाज्य है।

हाथ से कमायी हुई रोटी का रस क्या पाँव के लिए पुष्टिकारक नहीं होता ?

मानवता अन्धकार की कारा से युद्ध कर रही है। संसार के कोने-कोने में इस प्राचीर पर प्रहार किये जा रहे हैं। पता नहीं प्राचीर पहले कहाँ टूटेगा। मगर, जहाँ भी टूटे, प्रकाश का जो प्रवाह फूट निकलेगा, वह एक-दो खण्डों को नहीं, समस्त मानवता को प्लावित करेगा।

हम प्रकाश चाहते हैं, परम्परा की तमिस्रा को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले विभा-विशिखों से संचालित ज्ञान का प्रकाश। रूढ़ियों के जाल पर ज्वालापात करनेवाला उद्धारक प्रकाश, मनुष्य और मनुष्य के बीच जो एक नैसर्गिक सम्बन्ध है, उसे प्रत्यक्ष करके दिखलानेवाला समत्वविधायक प्रकाश।

और हम चिनगारियाँ भी चाहते हैं। प्रतिभा के मूल-पुञ्ज से छिटकनेवाली देदीप्यमान ज्ञान की चिनगारियाँ, कायरता को भस्मीभूत करनेवाले तेज और

ओज की चिनगारियाँ, बलिदान के पन्थ पर आरूढ़ रहने का प्रोत्साहन देनेवाली त्याग की चिनगारियाँ !

ओ मनुष्य ! जो कुछ तुम्हें मिलता है, वही तुम्हारा अन्तिम लक्ष्य नहीं था। यह प्राप्ति तो केवल इस आश्वासन के लिए है, तुममें यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए है कि तुम्हारा श्रम व्यर्थ नहीं जा सकता। चलनेवाले के आगे ही बढ़ता जाता है, कि चलनेवाला अपने लक्ष्य तक पहुँचकर रहेगा।

ये तारे और दीप तुम्हारी प्रगति के पथ के प्रकाश-स्तम्भ हैं। ये बतलाते हैं कि अनादिकाल से मनुष्य अन्धकार को भेदने के लिए अपने प्रयत्नों से प्रकाश का निर्माण करता आ रहा है। ये बतलाते हैं कि इन छोटे दीपों और इन टिमटिमाते ताराओं से उसे संतोष नहीं। वह तो उस उद्गम स्थल पर पहुँचना चाहता है, जहां विश्व का सम्पूर्ण प्रकाश विराज रहा है, जहाँ ज्ञान की सम्पूर्ण अग्नि अपने पूरे तेज के साथ शोभित है।

ज्ञान के उद्गम, प्रकाश के आदि-स्रोत के आमने-सामने खड़े होकर हम अपने आपको पहचानना चाहते हैं। ये दीप जिसके दूत हैं, ये तारे जिसके संकेत हैं, उस आलोचक-पुञ्ज का परिचय हमें मिलना ही चाहिए।

आकाशगंगा कहती है—ओ ज्योति के आकुल अन्वेषकों ! मेरे किनारे-किनारे चलो, तुम अपने लक्ष्य तक पहुँचकर रहोगे।

पृथ्वी कहती है—आलोक की जननी मैं हूँ। इन दीपों के प्रकाश में अपनी राह खोज लो। मगर शुक्र को ही सूर्य मानकर जो भूल जाय, उसे क्या कहिये ?

ऊपर, ऊपर और ऊपर मेरे जीवराज ! रोशनी की इन लकीरों से आगे भी कोई देश है, जिस पर तुम्हें कब्जा करना होगा।

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं।

———

एक टायर की राम-कहानी

लेखक—स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

निबन्ध वर्णनात्मक है, जिसमें घने वन से ढँकी हुई आसाम की उत्तरी पूर्वी सीमा की यात्रा का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रतिवर्ष मुमुक्षुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला परशुराम कुण्ड इसी सीमा पर पड़ता है। किसी विशेषता से युक्त अल्पज्ञात स्थानों की यात्रा का वर्णन विशेष आकर्षक होता है। साथ ही लेखक के व्यक्तित्व से रँगे हुए, अनुभूतिपूर्ण चित्रात्मक वर्णन ही वास्तव में साहित्य के भीतर आते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में ये सभी विशेषतायें दिखलायी पड़ती हैं। वर्णन-पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें एक टायर के माध्यम से अन्य पुरुष में वर्णन करने की नई पद्धति का प्रयोग किया गया है। इस चक्राकृति टायर का लाक्षणिक और प्रतीकात्मक महत्व तो है ही, साथ ही माध्यम रूप में उनके उपयोग से लेखक अपने घुमक्कड़ व्यक्तित्व को अधिक उभार कर पाठकों के सन्मुख उपस्थित कर सका है। स्वयं वर्णन करने पर उसका व्यक्तित्व इतना न उभर पाता। वर्णन में भाषा के लाक्षणिक और प्रतीकात्मक प्रयोग के साथ-साथ अभीष्ट दृश्य को मूर्त्त करने के लिए कहीं-कहीं काव्यात्मक आलंकारिक शैली का सहारा लिया गया है।

एक टायर की राम-कहानी

कहते हैं कि सृष्टि की सर्वोत्तम आकृति चक्र है— क्योंकि इसका आदि अंत कुछ नही है। मैंने देश की भिन्न-भिन्न सँकरी-चौड़ी, कच्ची-पक्की' ऊबड़-खावड़ सड़कों पर लुढ़कते-पुढ़कते अनेकों बार सोचा है कि चक्राकृति में सौन्दर्य के लिए बहुत अधिक नम्बर चाहे न भी पाऊँ, अपनी आदि-अंतहीन गतिक्षमता का दावा तो कर ही सकता हूँ और यह भी कह सकता हूं कि स्वयं सुन्दर न होकर मैं संसार के अखिल सौंदर्य की नवीं हूँ, क्योंकि मैं संस्कृति की नींव हूँ। संस्कृति और सभ्यता के विकास में अग्नि के अवतरण के बाद जो दूसरी सीढ़ी मानव प्राणी चढ़ा वह मैं हूँ, या यों कह लीजिए कि देवताओं के समुद्र-मंथन से जैसे सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि अग्नि की हुई, उसी प्रकार मानव-मन-रूपी महासागर के मंथन से जो श्रेष्ठ नवनीत प्राप्त हुआ, वह है चक्राकार की उद्‌भावना ...

यह मैं कह रहा हूं, तो चक्रमात्र के साधारण प्रतिनिधि की हैसियत से, नहीं, तो व्यक्ति रूप में अकिंचन यायावर हूं, और अपने ही जैसे यायावर 'श्री इन पंक्तियों के लेखक जी' का सहारा — क्योंकि उनकी गाड़ी का एक टायर हूँ ..

और मैं जो राम-कहानी कहुंगा, वह भी मेरी राम-कहानी, इसलिए है कि वह मेरे चालक की कहानी है। अपने अनुभव को दूसरे के अपने मालिक के इतिवृत्ति के रूप में कहना ही तो मर्यादा-संगत है, वैष्णव-भक्त राधा और कृष्ण के जीवन में अपने राग-विराग ढाल देते थे, मैं अपने प्रतीक पुरुष को ही आधार बनाता हूं। तुलना आपकी बड़बोलापन लगे तो यह न भूलिए कि जैसा मुरीद होगा, वैसा ही पीर होगा, उससे बड़ा कहां से आयेगा !

मिस्टर पोटर रोलिंग स्टोन
हैव यू एनी मास ?
नो सर, नो सर, आई एम
रनिंग एट ए लास !

अपने प्रतीक-पुरुष को मिस्टर रोलिंग स्टोन नहीं कहूँगा, यायावर कहूँगा पर बात वही है—

चल चल देता है लाद लादकर बार-बार बनजारा,
सब ठाठ धरा रह जाता धन बस दूर क्षितिज का तारा !

यायावर को भटकते चालीस बरस हो चले, किन्तु इस बीच न तो वह अपने पैरों तले घास (या मास !) जमने दे सका है, न कुछ ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है—उसके तारे को छूने की तो बात ही क्या कितने स्थल उसने देखे जहाँ बैठकर ऋषियों ने देहों पर वल्मीक उगा लिये, जहाँ मुनि तपस्या करते-करते पाषाण हो गये, जहाँ देवता जमकर पर्वत-शृंग बन गये, जहाँ मानवों ने ऐहिक आकांक्षाओं-वासनाओं से मुक्ति पायी किन्तु यायावर ने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिर में रुके कि शिला हो गये, और प्राण-संचार के लिए पहली शर्त है गति, गति, गति। छुटपन में चीनी कहावतों के एक संग्रह में जिस वाक्य ने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया था और जिसे उसने अपना गुरुमंत्र मानकर डायरी के मुखपृष्ठ पर लिख लिया थां, वह था :

मैं क्यों चाहूँ कि मेरी अस्थियाँ भी मेरे पुरखों की अस्थियों के साथ एक सुरक्षित समाधि-स्तूप से दबी रहें ? जहाँ भी कोई चला जाय, वहीं कोई हरी भरी पहाड़ी मिल जायगी....

....

यायावर को असम में जब नौकरी ही भटकने को मिली, तब उसे लगा मानों क्षितिज का तारा कुछ निकट आ गया है। किन्तु जब जापानी अभियान

बढ़ा और पछाड़ खाकर गिर गया, और काम का दबाव भी कुछ हल्का पड़ा, तब उसने समझ लिया कि जल्दी ही इस सीमान्त से स्थानान्तरित होना होगा इसलिए जब पूर्वी सीमा के भी पूर्वोत्तर प्रदेश का दौरा उसके हिस्से पड़ा, तब उसने तत्परता से स्वीकार किया, और दौरे के प्रोग्राम में कई ऐसे भी स्थान जोड़ लिये जो प्रायः दौरा करनेवाले अफसरों की सूची में छूट जाया करते हैं—चाहे इसलिए कि वहाँ भला क्या काम होगा ? और चाहे इसलिए कि 'कौन आफत का मारा वहाँ जायगा ?' मन ही मन यह भी ठान लिया कि दौरे पर ही अपने कार्य-क्रम को तात्कालिक आवश्यकतानुसार बदल सकने के अधिकार का भरपूर उपयोग किया जायगा—क्योंकि दौरे की पटरी से कुछ इधर या कुछ उधर या आगे ही तो कैसे-कैसे स्थान पड़ते हैं।

यायावर को इस बार जो ट्रक मिली, उसकी हालत बहुत अच्छी न थी। कहूँ कि उसमें एक टायर ही बस ऐसा था जिसका भरोसा लिया जा सके, तो इसे मेरी आत्मश्लाघा न समझा जाय ! एंजिन अठारह हजार मील पास कर चुका था—और अठारह हजार फौजी मील कितने लम्बे होते हैं, यह भुक्तभोगी मिलिटरी गाड़ियाँ ही जानती हैं। काँच सब टूटे हुए थे, कारबुरेटर खराब था, तारें गल गयी थीं, बैटरी बदलने लायक थी, डायनेमो बीच-बीच में चार्ज करना छोड़ देता था, ब्रेक कमजोर थे—तिस पर यायावर को रात में गाड़ी चलाने का व्यसन है और वह बहुधा दूर-दूर की मीटिंगें शाम को रखता जिससे घोर रात के सन्नाटे में सारी सड़क पर निर्बाध अधिकार हो, कहीं रुकना न पड़े, पटरी से उतरना न पड़े, किसी की धूल न फाँकनी पड़े और शान्ति से सोचा जा सके नथने फुलाकर कामरूपी रात की रहस्यमयी सुगन्ध ली जा सके, जब-तब बीच राह में चौंककर रुके हुए किसी वन्य जन्तु की चमकती अंगार-सी आँखें देखी जा सकें, फिर वह खरहा हो कि लोमड़ी, स्यार कि बनबिलार कि बघेला और रात की दौड़ में एक यह भी सुविधा थी कि कभी-कभी रैन बसेरे की समस्या अपने आप हल हो जाती थी।

किन्तु इस ट्रक के साथ रात की दौड़ कैसे हो? ययावर को चिन्ता नहीं। वह गाड़ी स्वयं चलाता है, शुक्लपक्ष की रातें हैं, उसके शरीर में शायद विटामिन कैरोटीन यों भी यथेष्ट है क्योंकि बत्ती जलाये बिना गाड़ी दौड़ाने में उसकी आँखों को कोई कष्ट नहीं होता। बल्कि यह स्निग्ध अंधेरा तो विचार का सहायक है—और चांदनी में पूरा प्रवेश दीखता है जब कि बत्ती जलाने से केवल सड़क दीप्त हो उठती है और परिपार्श्व पर कालिख पुत जाती है!

तिनसुकिया से आगे कोई वर्कशाप नहीं है तो क्या हुआ? यायावर के पैर में चक्कर है, दिमाग में चक्कर है, भ्रमरी योग में उसने जन्म लिया है और सनीचर की साढ़ेसाती चल रही है—क्या भटकानेवाली इतनी शक्तियाँ उसकी रुकी गाड़ी को चला न देंगी? कब उसे उत्तर-पूर्व का सीमांत फिर छूने को मिलेगा, कब फिर ब्रह्मपुत्र की समतल यात्रा का आरम्भ-बिन्दु, परशुराम का तपोवन और कुण्ड, कुण्डनपुर के उन महलों के अवशेष जहाँ बैठकर रुक्मिणी ने कृष्ण की प्रतीक्षा की होगी, गैंडे, हाथी और मिठून (अरना भैंसा) के सेवित कदलीवन, आबीर और मिशमी और खामटी वन्य जातियों के आश्रयदाता सदिया सीमाप्रदेश के दुर्भेद्य जंगल देखने को मिलेंगे....और चार-पांच दिन बाद ही तो माघपूर्णिमा है, जिस दिन परशुराम कुण्ड पर मेला लगता है....निस्संदेह यायावर का सदिया फ्रंटियर ट्रैक्ट में जाना बहुत जरूरी है, वहाँ उसे बहुत काम है और उसके लिए दौरे के प्रोग्राम मे हेर-फेर करना ही होगा।

•••

सैखुआ घाट असम रेलवे की छोटी लाइन का उत्तर पूर्वीय अन्तिम स्टेशन है। तिनसुकिया से पचास-पचपन मील रेल की पटरी के साथ-साथ सड़क जाती है। राह में डुमडुमा की अमरीकी छावनी और फिर एक बड़ा

चीनी शिविर लांघ कर, अनेक चाय-बगान, नदी-उपनदी और बेत के जंगल पार करके सैखुआ घाट का बँगला पड़ता है। किन्तु कोई सोच ले कि घाट पहुँचते ही नदी मिल जायगी तो भूल करेगा, यद्यपि नाम का घाट के बाद से नदी का पाट आरम्भ हो जाता है। दो तीन मील और आगे बढ़कर फिर सड़क खो जाती है और मीलों रेती में चलना पड़ता है, तब जाकर कहीं ब्रह्मपुत्र का उतार मिलता है, जहाँ गाड़ी नाव पर लादकर पार लगाई जाती है। पार उतरकर फिर दो-तीन मील रेती और फिर सड़क पर चढ़कर सदिया का छोर मिल जाता है, कुछ आगे बाजार है और बायें को मुड़कर दो-तीन मील जाकर सदिया को दुर्ग, छावनी और कचहरी आदि ···

यायावर का ट्रक सर्किट हौस पर जा रुका। मुझे तब विश्राम मिला, यायावर ने कमरे में सामान जमाया और नकशा लेकर बैठा। शाम को अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट से मिलकर 'भीतरी सीमा के पार के प्रदेश में जाने का परमिट लिया, और बाकी तैयारी अगले दिन पर छोड़ दी, ताकि इस बीच ट्रक की और मेरी कुछ खातिर कर ली जाय ···

सदिया सीमा-प्रदेश तो है ही, यहाँ का पोलिटिकल एजेंट सीधे गवर्नर के अधीन होता है, और उसके तथा सदिया के सैनिक कमांडर के हाथ में संपूर्ण शक्ति केन्द्रित होती है। भारत में ब्रितानी शासन को दृढ़ करने में किस तरह सीमा-प्रान्तों या पिछड़े प्रदेशों के पोलिटिकल एजेण्टों और ईसाई प्रचारकों का चोली-दामन का साथ रहा है, इसके अध्ययन के लिए असम के सीमा-प्रदेशों का सा क्षेत्र और न मिलेगा। यायावर प्रायः कहा करता कि देश की पराधीनता सबसे अधिक अखरती है तो एक अपने हिमालय के अंग, संसार के सबसे ऊँचे शिखर का नाम 'एवरेस्ट' सुनकर और एक सीमा-प्रदेश में जाने के परमिट के लिए फिरंगी पोलिटिकल

एजेंट के दफ्तर में जाकर ! देश की प्रत्येक सीमा तीर्थ होती है, नहीं तो देश पुण्यभूमि कैसे होता है ? पर अपने ही तीर्थ तक जाने के लिए परदेशीय सत्ता के अहंमन्य प्रतिनिधि का मुंह जोहना चुभता है उसे भुक्तभोगी जानते हैं—

सदिया फ्रंटियर टैक्ट में भी दो सीमाएँ हैं । एक भीतरी सीमा, एक बाहरी सीमा । यों तो सदिया में घुसने वाले प्रत्येक व्यक्ति के आने का कारण, ठहरने की अवधि आदि का ब्यौरा देना पड़ता है; पर भीतरी सीमा तक जाने के लिए व्यक्ति को और अधिक कुछ नहीं करना पड़ता । किन्तु इस सीमा के पार जाने के परमिट पोलिटिकल एजेंट स्वयं देता है, और सदा या सबके लिए सहल नहीं होता । माघ मेले के समय परशुराम जानेवाले यात्री जाकर उसी दिन लौटने का, या रात भर ठहरने का परमिट तो फीस देकर पा लेते हैं, अन्य समय या अन्य प्रकार के परमिट के लिए पूरी जाँच होती है । सदिया से लगभग चालिस मील आगे टामेइ तक मोटर जाती है, परशुराम के लिए फिर टामेइ घाट पर ब्रह्मपुत्र (जो यहाँ पर लुहित कहलाती है, इसी का संस्कृत नाम जो महाभारत में मिलता है लौहित्य है) पार करके चार-पाँच मील पैदल जंगल पार करना पड़ता है । किन्तु अठारह-बीस मील जाकर ही भीतरी सीमा पर पहुँच जाते हैं ।

सदिया से तीन-चार मील जाकर ही ब्रह्मपुत्र की एक उपनदी पार करनी पड़ती है, जो अब कुंडिल कहलाती है । प्रसिद्ध है कि इसी नदी के किनारे कुंडिनपुर की राजधानी थी, और यहीं से रुक्मिणी को लेने कृष्ण आये थे । पुरानी रिपोर्ट से पता चलता है कि इस शताब्दी के प्रारंभ में भी यहाँ 'अति प्राचीन, परकोटे आदि के खंडहर थे, किन्तु जहाँ इनके पाये जाने का वर्णन था, वहाँ पर नयी सर्वे के नक्शों में लिखा है 'इंपेनेट्रेबल फारेस्ट' अभेद्य जंगल । और यह अभेद्यता काव्योचित अतिरंजना नहीं, यह यायावर ने स्वयं परख कर देख लिया । इस नदी पर पुल नहीं है और गाड़ी को नौका पर लाद कर पार

करना पड़ता है, जब तक यह हो तब तक यायावर ने नदी मार्ग से उस जंगल में घुसने की सोची, क्योंकि स्थल से दुर्भेद्य जंगल डोंगी में बैठ कर जाने वाले के लिए उतना दुर्भेद्य नहीं रहता ""पर जल्दी ही उसने समझ लिया कि दो-चार दिन की फुरसत न हो तो पड़ताल करना भी व्यर्थ है ""

....

कदली वन ""

जिसने वह नहीं देखा वह नहीं मानेगा कि संस्कृत वाक्यों में कदली वन में विचरते हाथियों का जो वर्णन मिलता है, वह अक्षरशः सत्य हो सकता है। जंगली हा सही केले के इतने बड़े जंगल कि दो घंटे मोटर दौड़ाकर भी पार न हों"" और उनकी चिकनी, गहरी, हरी छाँहों में कहीं हाथियों के झुंड और कहीं बड़ी शालीनता से घूमते मिठून"" मिठून अरना भैंस ही होता है, किन्तु अरने भैंसे से कहीं अधिक गठे शरीर वाला और फुर्तीला वन्य जातियाँ सभी मिठून को पूज्य मानती हैं, कुछ जातियाँ अपने को मिठून कुलोत्पन्न बताती हैं और मिठून को अपना पूर्वज मानकर पूजती हैं। कहीं-कहीं मादा मिठून पालते भी हैं –

बाहर एक मील दूर जाकर हांलोगाँव का छोटा पड़ाव था, जहाँ अमरीकी सैनिकों ने शायद रेडियो-चौकी बना रखी थी। पोलिटिकल एजेंट ने बताया था कि यहाँ के सैनिकों ने मिठून के धोखे में मिश्मियों की कुछ भैंसे मार डाली थीं, फिर एजेंट के बीच-बचाव करके हरजाना दिलाने पर किसी तरह निपटारा हो सका। अमरीकी प्रायः किसी के भुलेखे में किसी को मारते और फिर हरजाना भरते रहते थे। जहाँ ऐसी घटना या घटनाएँ हो जायँ, वहाँ कुछ देर के लिए खाकी वर्दी बहुत अप्रिय हो जाती —क्योंकि वनवासियों के लिए सब फौजी एक हैं, फिर फौजियों में आपस में भले ही यह हो कि अंग्रेज अमरीकी को मूर्ख कहें, अमरीकी

अंग्रेज को असामाजिक, या हिन्दुस्तानी एक को दंभी और एक को अवारा।
तभी यायावर इस प्रदेश में विशेष सतर्क भाव से मोटर चला रहा था।
कुछ राह चलते मिश्मियों ने हाथ उठाकर गाड़ी रोकी तो उसने रुककर
चार-छः को पीछे बिठा तो लिया और मुड़-मुड़कर उनकी ओर को उन्हीं
की-सी खुली चौड़ी हँसी हँसता रहा, पर मन ही मन सोचता रहा कि
इनके कंधों पर कसे हुए तीर-धनुष और कमर में खोसे हुए खाँडे किस-
किस काम आ सकते हैं···पर अपने-अपने पड़ाव पर ये अतिथि उतरते गये
और एक अद्भुत मूर्धन्य धन्यवाद देकर और हँसकर चलते गये टिजू के
बाद जब अंतिम कुछ मील के जंगल में प्रवेश हुआ, तब उसको अत्यन्त ऊँची-
नीची काई और कीचड़ की फिसलन भरी कच्ची सड़कें पार करने के लिए
ट्रक में रह गये केवल यायावर, उसका अनुचर जीतबहादुर लामा और
कुंदनसिंह जो कभी शिलांग में नगर-पालिका (म्युनिसिपैलिटी) का मेहतर
था, किन्तु यायावर के साथ पहले अर्दली हुआ था और फिर ट्रक का क्लीनर—
जिसके लिए वह वेतन पाता था नौसिखिये ड्राइवर का—और जिसको अगर
कोई कभी 'ड्राइवर साहब' कहकर आवाज दे देता तो वह ऐसा आनन्द-विभोर
होकर झूमने लगता मानो अब गिरा, अब गिरा···

जंगल पार करके पेड़ों के तने जोड़कर बनाए हुए एक काठघर के नीचे
ट्रक रुकी। यह टामेई का पड़ाव था, जहाँ से उत्तर को एक रास्ता रोमा
(उत्तरी वर्मा) को जाता है। कभी यह भारत और चीन को जोड़नेवाला
एक मार्ग रहा होगा, पर अब नहीं चलता। उन दिनों अवश्य इसकी नयी
'सर्वे' हुई थी और सड़क बनाने का विचार हो रहा था, आरम्भ का कुछ अंश
बना भी था। पड़ाव से कुछ आगे ही मिश्मियों की छोटी-सी बस्ती थी, कई
एक नंगधड़ङ्ग बच्चे आकर ट्रक को देखने लगे। दो-तीन फर्लांग जाकर
लुहित का किनारा मिला। नदी वहाँ वेगवती थी, निर्मल जल में नीचे
पत्थर दीख पड़ते थे, पर यहाँ भी उसका रूप वैसा था जैसा पहाड़ छोड़ने

पर नदी का होता है—लगभग जैसा हृषीकेश में गंगा का है— यद्यपि यहाँ के जंगल की तुलना नहीं है।

नदी पार करके चार मील जंगल का रास्ता।

जंगल में बीच-बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता, जिसमें सहायक सेमल के धवल-गात पेड़ मानो आगमिष्यत् रक्त-प्रसूनों की सुलगती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे, और कहीं-कहीं किंशुकों के झुरमुट। कुछ ही दिन में इनमें आग खिल जायगी, पहाड़ियों के पार्श्व की चिपटती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रुख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जायगी और ब्रह्मपुत्र का बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ नीलगात, मानो वसंत-श्री के लाल चुम्बनों से मुद्रांकित हो उठेगा। फिर धीरे-धीरे नद उमगेगा और उसका उद्‌बुद्ध पौरुष आसपास के प्रदेश को लील लेना चाहेगा—लील लेगा—और अपनी सफलता के खेद से खिन्न और गदाल हो उठेगा....

किन्तु रूपक को और दूर तक खींचना आवश्यक नहीं है, चट्टानों के बीच गली से होकर यायावर एक कुछ खुली जगह पहुँचकर ठिठक गया है। सामने परशुराम का कुंड है।

... .

कुण्ड वास्तव में ब्रह्मपुत्र की धारा का ही एक आवर्त है। नद जब समतल भूमि में प्रविष्ट होता है तब, मानो महासागर में अपनी चरम निष्पत्ति की खोज में अभिनिष्क्रमण का निश्चय करके भी, एक बार वह पीछे मुड़कर महान् स्थित-चेता हिमालय का दर्शन कर लेना चाहता है जिसके आश्रय में उसने अपनी लगभग आधी यात्रा हँसते-खेलते, उछलते-कूदते ही तय कर ली है। मंडलाकार घूमकर, हिमालय की चरण-रज लेकर, फिर वह घोर गति से आगे बढ़ जाता है। आवर्त के दाहिनी ओर, जहाँ धारा पहले टकराती है, कुछ

ऊँचाई पर पहाड़ के पार्श्व से एक सोता फूटता है जिसका जल आकर कुण्ड में पड़ता है, यह सोता ब्रह्मधारा है। बायीं ओर जिस शिखर के पैर छूता हुआ ब्रह्मपुत्र आगे बढ़ता है, उस पर एक छोटा-सा मन्दिर है। यायावर जहाँ खड़ा होकर दृश्य देखता है, वहाँ पीछे जस्ते की चादर और लकड़ी की कई एक कोठरियाँ हैं, जहाँ यात्री रात ठहर सकते हैं।

यायावर ठिठककर देखता रहता है। इसी तरह कभी परशुराम भी वहीं पर ठिठककर क्षण भर दृश्य को देखते रहे होंगे, और तब उन्होंने जाना होगा कि उनका स्वप्न ठीक था और यहाँ उनकी आत्मा शान्ति पायेगी। तब उन्होंने नीचे उतर कर स्नान किया होगा और मनस्ताप मिटाने का उपक्रम करने से पहले शरीर की क्लांति धोयी होगी....

कथा है कि पिता की आज्ञा से मातृ-वध करने के पश्चात् परशुराम के मन में ग्लानि हुई, और वे पिता के आश्वासन देने पर भी अपने को मातृघात के महापातक से मुक्त न मान सके। बहुत तपस्या करके भी जब उनके मन से पाप का कलुष न धुला, तब एक दिन भगवान ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर उन्हें ब्रह्मपुत्र के इस कुण्ड में स्नान करने का आदेश दिया और कहा कि वहाँ तपस्या करने से उनके मन का परिष्कार होगा। परशुराम खोजते हुए इस स्थल पर पहुँचे, कुण्ड में और ब्रह्मधारा के नीचे स्नान करके उन्होंने तपस्या की और पाप के बोझ से मुक्त हुए!

यायावर ने कुण्ड में, और फिर धारा के नीचे स्नान किया। कुण्ड का जल बर्फ सा ठंढा है, सोते का जल गर्म। अतः इसी क्रम से स्नान करना अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है। स्नान से पाप धुल जाते हैं। पाप तो दीखते नहीं, अतः उनके दृश्य प्रतीक के रूप में जिन वस्त्रों से स्नान किया जाता है उन्हें कुण्ड पर ही छोड़ देने की प्रथा है। इस सरल उपाय से यात्री अपने पाप वहीं छोड़ कर चले जा सकते हैं। यायावर जब गया तब तो कुण्ड पर सन्नाटा

था, पर संक्रान्ति आदि के स्नानों पर जब भीड़ लगती है, तब मुमुक्षुओं से अधिक उत्साह उनके पाप-मोचन के लिए वहाँ जुटे हुए मिश्मी स्त्री-पुरुष दिखाते हैं। मुमुक्षु नहाकर निकले-न-निकले कि मुक्ति-पथ के ये सहायक उसकी धोती, गमछा, लंगोट जो कुछ हो खींच लेते हैं, और कभी-कभी मुमुक्षु को उस परम निष्पाप अवस्था में ही अपने सूखे कपड़ों तक जाना पड़ता है। इसका विरोध संभव नहीं है। यही रीति चली आयी है और सभ्य मुमुक्षुओं के पाप का बोझ इस प्रतीक के द्वारा ढोने का अधिकार सदा से असभ्य उपत्यकावासी मिश्मियों का रहा है। विकसित नागरिक-सभ्यता के पापों का बोझ अविकसित वन्य जातियों द्वारा ढोया जाता है। इस सत्य की यह रीति स्वयं कितना अर्थपूर्ण प्रतीक है, इसकी ओर कदाचित् दोनों ही पक्षों का ध्यान कभी नहीं जाता होगा।

———

निबन्ध का स्वरूप

लेखक—शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रस्तुत निबन्ध विचारात्मक है जिसमें निबन्ध के स्वरूप के संबन्ध में मौलिक ढंग से विचार किया गया है। लेखक की प्रमुख स्थापना यह है कि निबन्ध का तत्त्व विषय में नहीं, बल्कि लेखन-शिल्प में निहित होता है। मूलतः इससे रचना के संगठित रूप का द्योतन होता है। अतः निबन्ध का रूप सभी प्रकार की रचनाओं—गद्यात्मक—पद्यात्मक दोनों में पाया जा सकता है। किन्तु गद्य-रचना में इस रूप के विकास के लिये अधिक अवकाश रहता है, अतः विशिष्ट अर्थ में इस रूप को प्रधानता देनेवाली गद्य-रचनाओं को निबन्ध की संज्ञा दी जाती है। अन्त में प्राचीन और नवीन ढंग के निबन्धों का अन्तर बतलाते हुए लेखक ने आधुनिक निर्बन्ध निबन्धों के रचना-शिल्प और शैली पर विचार किया है। निबन्ध में शिल्प-शैली के महत्त्व पर विशेष बल दिया गया है। विचार सूत्ररूप में रखे गये हैं और व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। सूत्र-शैली में लिखा गया यह निबन्ध बहुत संगठित और विचारोत्तेजक है।

निबन्ध का स्वरूप

निबन्ध किसे कहा जाय ? यद्यपि यह प्रश्न समयातीत हो गया है तथापि अब भी इसके संबन्ध में जिज्ञासा बनी हुई है।

निबन्ध का स्वरूप हृदयंगम करने के लिए साहित्य का कलात्मक संस्कार अपेक्षित है।

हमारे मध्यकालीन साहित्य में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी के रामचरितमानस में मिलता हैं। प्रारंभ में ही उन्होंने मानस को नाना-पुराण-निगमागम का भाषा-निबन्ध कहा है। कहाँ काव्य और कहाँ निबन्ध। किन्तु निबन्ध से उनका अभिप्राय निबद्ध रचना से है। संस्कृत वाङ्मय की विविध निधियों को संकलित कर उन्होंने पुष्पस्तबक की भाँति समवेत संयोजित कर दिया है। इस तरह निबन्ध से किसी रचना का संगठित रूप व्यक्त होता है। वह एक ऐसा लेखन-शिल्प है जिससे रचना का रूप-विन्यास होता है। वह ऐसा बन्धान या आन्तरिक छन्द है जिससे रचना संतुलित हो जाती है। लेखन-शिल्प के रूप में निबन्ध एक तंतुविन्यास है, जैसे शरीर का स्नायविक संगठन। अंग्रेजी के 'एसे' और 'आर्टिकल' में भी निबन्ध एक ऐसा ही शिल्प-तंत्र है। शिल्प-वैशिष्ट्य से निबन्ध के संगठित रूप में वैविध्य हो सकता है, किन्तु उसका सूत्र है : अविच्छिन्नता, संयोजकता, संबद्धता।

केवल भावों और विचारों के सुचारु संचयन में ही नहीं, गोस्वामी जी के मानस के काव्य-गठन (कथानक) रचनात्मक रूप में भी निबन्ध हैं। कथा के कारण वह प्रबन्ध काव्य है, किन्तु कथा-रहित मुक्तक काव्य भी निबन्ध बन सकता है। वर्तमान काव्य-

साहित्य में इसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं, विशेषतः प्रसाद और निराला की रचनाओं में। निराला जी ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक लेख में कहा है—उनके गीतों में एक भाव का सांगोपांग निर्वाह रहता है। काव्य में जिसे सांगरूपक कहते हैं वह भी तो एक प्रकार का भावात्मक निबन्ध है।

निबन्ध का क्षेत्र विस्तृत है। वह लेख में भी हो सकता है, काव्य में भी हो सकता है और कहानी में भी। 'गल्प' में निबन्ध का ही कथाबन्ध है। जैसे प्रसाद और निराला के मुक्तक काव्य में निबन्ध का शिल्प है, वैसे ही प्रेमचन्द और शरद की कहानियों में भी। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि काव्य और कहानी निबन्ध ही हैं। संकेत यह है कि निबन्ध का रूप काव्य में, कहानी में, लेख में, संस्मरण में, जीवनी में, आलोचना में, पत्र और रिपोर्ताज में, भ्रमण-वृत्तान्त में, रचना के किसी भी विषय में व्यक्त हो सकता है। फिर निबन्ध के सम्बन्ध में उलझन क्यों है? इसका कारण यह है कि निबन्ध को विषय के रूप में देखा जाता है। निबन्ध विषय नहीं, शिल्प है, लेखन-कला है। वैसे तो सभी सुसंगत रचनाओं में एक निबन्ध रहता है, तथापि स्फुट लेखों को ही निबन्ध कहा जाता है। इससे निबन्ध का गुण नहीं, आयतन स्पष्ट होता है। किन्तु निबन्ध लेख का कलेवर नहीं, कला है। उपन्यास के भीतर कहानी की तरह अथवा महाकाव्य में मुक्तक की तरह विशद ग्रंथ में भी निबन्ध सन्निहित हो सकता है। ग्रंथ के महाबन्ध से आवश्यकतानुसार निबन्ध का संक्षिप्त अथवा विस्तृत चयन किया जा सकता है।

निबन्ध को गद्य में विशेषतः साहित्यिक लेखों में ही देखा जाता है। इसका कारण यह है कि गद्य-साहित्य में निबन्ध का रूप अधिक प्रस्फुटित रहता है। यहाँ तक की उसकी प्रधानता सूचित करने के लिए वह लेख का पर्याय हो गया। किन्तु [illegible] लेख नहीं, गद्य-

रचना का एक विशेष प्रकार है। गद्य में जिस रूप की प्रधानता होती है उसी रूप का व्यंजक शब्द संश्लिष्ट कर कोरे गद्य से भिन्न अर्थ व्यक्त किया जाता है, जैसे गद्यकाव्य और गीत-गद्य। गद्य में ही नहीं, काव्य में भी ऐसा ही संश्लिष्ट शब्द-प्रयोग किया जाने लगा है, जैसे गीत-नाट्य. गीत-काव्य, कथागीत। इसी तरह निबन्ध शब्द भी रचना के लिए विशिष्ट रूप का ज्ञापक है।
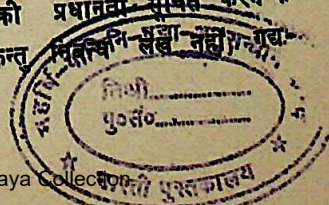
निबन्ध लेख हो सकता है, किन्तु सभी लेख निबन्ध नहीं हो सकते। लेख में केवल लिखने की क्रिया रहती है, निबन्ध में क्रिया का शिल्प या क्रियाकल्प रहता है, उसमें मर्मिकता : रागस्पर्शिता अथवा शैली की व्यंजकता से आती है। शैली लेखन-कला की सजीवता है। इससे निबन्ध ही नहीं, किसी भी रचना के शिल्प में एक और शिल्प-कारिता आ जाती है। यह कला की कला है। शैली से ही निबन्ध में कविता की, कहानी की, नाटक की विशेषता आ जाती है, यथा-स्थान इन सबका स्वयमेव स्वाभाविक समावेश हो जाता है।

पुराने निबन्ध एक प्रकार के विवृत्त होते थे। उनका लेखन-विन्यास अथ से इति तक इतिवृत्तात्मक होता था। उनका वही रूप था जो द्विवेदी-युग में गद्य का था। निबन्ध का यह रूप वार्तालाप की भारतीय स्वाभाविकता का सूचक है। गोस्वामी जी ने भी अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र वार्तालाप का यह नैबन्धिक सूत्र अपनाया है, या 'इति वदति तुलसीदास शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनम्।' —वक्तव्य का यह इत्यलम् रूप ही हमारी पिछली साहित्य-परम्परा में निबन्ध था। किन्तु जैसे पुराने ढंग के गल्प और पद्य से कहानी और कविता में परिवर्तन हो गया वैसे ही निबन्ध के रूप में भी।

क्या निबन्ध और नहीं हो सकता, जैसे मुक्त छन्द? मुक्त छन्द वह है जो छन्दों में ही स्वच्छन्द है; बन्धन में ही निर्बंध है। कविता में जैसे मुक्त छन्द को साधने के लिए नियमित छन्दों की
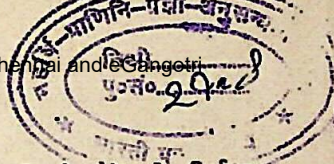
अपेक्षा विशेष कला-कुशलता की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही निर्बन्ध निबन्ध में भी। सच तो यह है कि वैसे ही निर्बन्ध निबन्ध में कलाकारिता अधिक आन्तरिक हो जाती है। निबन्ध की निर्बन्धता से जो कलात्मक भंगिमा आ जाती है उसे ही विक्षेप-शैली और प्रलाप-शैली कहते हैं। इस निर्बन्धता एवं शैली की विचित्रता में भी तथाकथित अविच्छिन्नता और संयोजकता बनी रहती है। रचना के बाह्य गठन तथा विचार और भाव की चरम परिणति में जो अन्विति बनी रहती है, वही विक्षेप और प्रलाप-शैली में भी एक सूक्ष्म निबन्धशीलता ला देती है। विक्षेप-शैली का उदाहरण पन्त के 'पल्लव' की लम्बी कविताएँ हैं जो शब्द-शब्द और पंक्ति-पंक्ति में अनेक उत्प्रेक्षाओं, लाक्षणिकताओं और रस-विविधताओं को समेटे हुए एकान्वित हो जाती हैं। गुलेरी जी की कहानी (उसने कहा था), चतुरसेन शास्त्री और उग्रजी के कतिपय लेख विक्षेप-शैली के द्योतक हैं। प्रलाप-शैली का उदाहरण बंगला से अनूदित उपन्यास 'उद्भ्रान्त प्रेम' है। निराला जी के एक लेखन (वर्तमान धर्म) को पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'साहित्य सन्निपात' कहा था। क्या वह प्रलाप-शैली का लेख था? नहीं, उसमें प्रलाप नहीं, प्रतीक की सांकेतिकता थी। शैली की नहीं अर्थ की गूढ़ व्यंजकता थी। किसी भी रचना में प्रतीक की भी अपनी विशिष्टता है, उससे अभिप्राय बिन्दु में सिन्धु की तरह सारगर्भित हो जाता है, किन्तु उसे अत्यन्त गूढ़ और क्लिष्ट नहीं होना चाहिए। अति गूढ़ता अथवा क्लिष्टता से रचना शुष्क और गरिष्ठ हो जाती है।

जैसे सभी लेखक निबन्धकार नहीं हो सकते, वैसे ही सभी निबन्धकार शैलीकार नहीं हो सकते। सूक्ष्मदर्शिता के अभाव में अपने यहाँ सभी प्रसिद्ध लेखकों को शैलीकार कहने का रिवाज चल पड़ा है। हिन्दी में शैलीकार निबन्धकार बहुत कम हैं। स्व० आचार्य शुक्ल जी की उक्तियों में यत्र-तत्र शैली की व्यंजकता है, किन्तु वे शैलीकार-निबन्धकार नहीं, लेखक और आलोचक

हैं। उनका आरम्भ मनोवृत्त्यात्मक लेखों (लोभ, प्रीति, ईर्ष्या आदि) से हुआ था, पर्यवसान आलोचना में हुआ। पुराने लेखकों में पं० पद्मसिंह शर्मा, सन्त पूर्णसिंह, स्वामी सत्यदेव, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, शिवाधार पांडेय निःसंदेह शैलीकार हैं, नये लेखकों में चंडीप्रसाद 'हृदयेश', शिवपूजनसहाय, माखनलाल चतुर्वेदी, जैनेन्द्रकुमार।

निबन्ध के विषय और शैली अनेक हो सकती हैं, विचारों की दृष्टि से वर्णनात्मक, आलोचनात्मक, दृश्यात्मक, विवेचनात्मक स्वात्मक ; कला की दृष्टि से लाक्षणिक, व्यंजनात्मक, ध्वन्यात्मक, व्यंग्यार्थक। कला की दृष्टि से आलोचना में भी निबन्ध और शैली की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। आलोचना में शैली सोने में सुगन्ध है। यदि यह संभव नहीं हो तो उसमें निबन्ध का शिल्प-नैपुण्य होना चाहिए, अन्यथा, वह दर्शन और गणित की तरह शुष्क हो जायेगी। यों तो जैसे लेख लिखे जाते हैं वैसे ही आलोचना भी लिखी ही जाती है, किन्तु निबन्ध के बिना आलोचना का गठन नहीं हो सकता।

———

...गई।
...ज रखना
...है। लेकिन

...था और उपनिदेशक ने इसमें जिन पार्टियों का ध्वज संसार के अन्य राष्ट्रों से मिलता जुलता है, उनके बारे में क्या विचार है। क्या वह पार्टियां देश की सम्प्रभुशक्ति संरक्षित रख सकेंगी क्योंकि उनका तो अभी से श्रद्धा केन्द्र विदेश में है वहीं से उनके निर्देश भी चलते हैं। कुछ पार्टियों ने संसार के कुछ अन्य धार्मिक देशों पर अपने चिह्न व झण्डे को रखा है। उनका श्रद्धा केन्द्र क्या है। रहते हैं भारत में पैदा हुए भारत में चाहते हैं विदेशी भाषा, लिपि, संस्कृति और निर्देश। वही झण्डा भी। कांग्रेस ध्वज पर उंगली उठाने वाले क्या इसका जवाब देंगे। —विमल चन्द्र, इलाहाबाद

केन्द्र सरकार से आग्रह

केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के आश्रितों को सम्माननिधि प्रदान करती हैं, किन्तु सरकारी सेवाओं में उ.प्र. सरकार प्रान्तीय सेवाओं में स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के आश्रितों के आरक्षण एवं आयु सीमा में छूट प्रदान करती हैं। परन्तु केन्द्रीय ... सेनानियों के ... नहीं है, जबकि ... में सुविधा

साधन व धन से, चुनाव
लाहाबाद ससंदीय क्षेत्र में
से प्रलोभन कांग्रेस सरकार
सियों को केवल आश्वासन
रू राजनीतिक के चलते।
त्रे 'बुंदेलखण्ड' जैसे सुविधा
ध्य मंत्री ने की है, क्या इसमें
नहीं है।

को चुनाव जिताने के लिए
पृष्ठभूमि नहीं बांधी गयी
टपकता तो यथोचित समय
क्षेत्र' को सुविधा देने की
मंत्री करते? जनता महज
रह गयी है, यह त्रासदी नहीं
यह विचारणीय है, आखिर
लेगा?

-बालमुकुन्द सिंह,
जौनपुर

...ान संशोधन

द्वारा हाल ही में ५९वां
न विधेयक पारित हुआ.
केन्द्र उन अलोकतांत्रिक
स हो गई जिसमें वह बिना
मा चलाये न केवल उसे
कती है, बल्कि अज्ञातवास भी
र्यापि उक्त विधेयक पंजाब के
माप्ति के लिए लाया गया है
विधान में आतंकवाद या
कों' के विरुद्ध ही
उपयोग होगा ऐसा शब्द
या गया है।

मामले में यह बात संदेह से
९७७ की तरह केन्द्र सरकार
का फायदा राजनीतिक
लिए कर सकती है और इस
को आज भी देश की जनता,
ना प्रतिपक्ष भूला नहीं है। यदि
न्द्र सरकार इस कानून को

का बच्चे के शरीर में पहुंचना होता है। ये हमें दिखायी नहीं देते और गंदगी में पाये जाते हैं। खाने- पीने की चीजों को गंदगी में रखने या गंदे हाथ लगाने से उनमें रोगाणु लग जाते हैं और खाने- पीने की चीजों द्वारा ये हमारे शरीर में पहुंच जाते है। बच्चों में दस्त रोग बोतल से दूध पीने वाले बच्चों को ज्यादा होता है।

बच्चे में प्रभाव एवं खतरा

१.शरीर से काफी मात्रा में जल तथा लवण के निकल जाने से पानी की कमी एकदम हो जाती है एवं अधिक कमी हो जाने या डिहाइड्रेशन के कारण बच्चा कुछ घण्टों या दिनों में उसकी मौत भी हो सकती है।

२.बच्चों में जल एवं लवणों की कमी से बढ़वार भी रुक सकती है।

३.बच्चों में कुपोषण की बीमारी भी हो सकती है क्योंकि दस्तों में बच्चे की एक तो भूख कम हो जाती है दूसरे गलतफहमी के कारण मां बाप भोजन दूध आदि भी बन्द कर देते हैं।

४.बच्चे का वजन कम हो जाता है, बच्चा दुबला हो जाता है एवं रोग से लड़ने की क्षमता भी कम हो जाती है।

सुधरे तो उसे अवश्य ही डाक्
जाइए।

३.बाजार में ओ. आर. एस
शक्कर का मिक्चर भी मिलता है

४.नमक चीनी का घोल (नमक
निम्न विधि से बनाया जाता है।

दवा

आजकल हर घर में दवाइयों का वही स्थान है जो कि भोज्य पदार्थों का है क्योंकि बीमारी एक ऐसी चीज है जिसका आगमन हर घर में होता रहता है अत: बीमारियों से बचने के उपाय भी हर घर में मौजूद होते हैं परंतु छोटी- मोटी बीमारियों के होने पर आम व्यक्ति डॉक्टर के पास जाने के बजाय अपने ही ज्ञान के अनुसार दवाईयां खा लेता है और कभी कभी स्वस्थ भी हो जाता है क्योंकि छोटी मोटी बीमारियों मसलन बुखार, जुखाम, पेट में दर्द, शरीर में दर्द, चोट मोच आदि से बचाव की दवाईयों के विज्ञापन अक्सर दिखते रहते हैं। अत: साधारण व्यक्ति इन सब बीमारियों की दवा खुद ही जान लेता है परन्तु यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है कि ये विज्ञापन वाली दवाईयां उन्हीं लोगों के लिए उपयुक्त होती है जिन्हें अन्य कोई बीमारी न हो और जो डाक्टरों की

निगाह में स्वस्थ कहलायें इसलि
देखकर या पास- पड़ोसियों की ब
दवा नहीं खा लेनी चाहिए क्यों
प्राणदायक दवाएं असावधानी के
बन जाती है।

कुछ दवाईयों का घर- घर मे
बुखार के लिए क्रोसीन, सरदर्द
सर्दी जुकाम के लिए एंटीबायोटि
इत्यादि लगने पर एन्टीसेप्टिक प
तभी लेनी चाहिए जबकि इनके लि
सलाह दे। सरदर्द की दवाएं हर व
कुछ समय बाद पेट में गड़बड़ी र
सरदर्द भी स्थायी हो जाता है अ
इस्तेमाल कम से कम, बहुत आव